# समर्पणम्

सुपुत्री विमला को
जिसका
विमल चरित्र मानवता का एक पुष्प है।
सम्मानपूर्वक

—निर्मलचन्द्र

# प्रस्तावना

रस्किन ने कहा था कि "जीवन ही एकमात्र धन है," किन्तु यह कहना अधिकतर सत्य होगा कि चरित्र ही एकमात्र सच्चा धन है। चरित्र है, तो सब कुछ है; चरित्र नहीं, तो कुछ भी नहीं है।

किन्तु चरित्र कतिपय अभ्यासों की गठड़ी नहीं हुआ करता। यह तो एक सजीव सत्ता है, जो अनुकारी तथा यान्त्रिक होने के स्थान में अन्तर से बाहर की ओर विकसित होती है।

सदाचार को चरित्र समझना एक बड़ी भूल है। सदाचार दृढ़ तो हो सकता है, किन्तु उसमें चरित्र की नमनीयता, स्वाधीनता तथा सर्जन कहाँ ? सदाचार 'करने' से ही सम्बन्ध रखता है, जबकि चरित्र 'होने' की वस्तु है।

यह अवश्यम्भावी तो नहीं है कि सदाचारी मनुष्य सच्चरित्र भी हो, किन्तु सच्चरित्र पुरुष अवश्य ही सदाचारी हुआ करता है।

चरित्र एक धनात्मक सत्ता होने से प्रभावशाली और दूसरों को बदलने वाला होता है। इसलिये वह अपने स्थायी प्रभाव द्वारा सदा जीता है।

चरित्र जीवन को प्रफुल्लित करता है, जबकि सदाचार हमारी सत्ता को बाहर से भींचता हुआ कठोर बनाता है। इसलिये चरित्र सदा संवेदात्मक होता हुआ अपने भीतर ही अपना आलोक तथा प्रमाण रखता है।

भारत शताब्दियों की दासता के कारण सदाचार की ओर अधिक झुकाव रखता है, किन्तु केवल चरित्र द्वारा ही इस देश का पुनर्निर्माण हो सकेगा अन्यथा कभी नहीं।

इसके अलावा अब समस्त मानव-जाति भी अपने नव-जन्म के लिए प्रसव-वेदना से अत्यन्त पीड़ित दीख पड़ती है।

इसी मानव-आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही 'चरित्र विकास' को सर्वसाधारण की भेंट किया जाता है, इस आशा से कि शायद यह ग्रन्थ कुछ जागृति लाने में सफल होगा।

—निर्मलचन्द्र

# विषय-सूची

: १ :

# सफल जीवन

वृक्ष जब तक पक्का फल न लाए, वह न तो अपनी पूर्णता को लाभ करता है और न दूसरो के लिए पूर्णतः उपयोगी होता है। इस प्रकार मानव-जीवन भी अपना फल लाने के लिए है और जब तक वह अपना विशेष फल नही लाता वह न तो स्वयं आनन्दित होता है और न औरो के लिए पूर्णत लाभदायक हो सकता है। विफल जीवन तो एक ऐसे यन्त्र के समान है, जो खाता तथा चलता तो है, किन्तु कुछ उत्पन्न नही करता।

मानव-जीवन का फल क्या है ? चरित्र। जिस प्रकार परिपक्व फल ही वृक्ष के वास्तविक स्वरूप का पता दे सकता है, इसी प्रकार चरित्र ही मानव-स्वरूप का प्रदर्शक होता है।

चरित्र का अर्थ बाह्य नियमो तथा प्रथा-पद्धति के अनुसरण के स्थान में अपने ही अन्दर के आध्यात्मिक गुणो तथा दिव्य शक्तियो को अपने दैनिक आचरण में व्यक्त करना है। सच्चरित्र व्यक्ति बाह्य घटनाओ के अनुसार न जीता हुआ अपने अनुकूल व प्रतिकूल घटनाओ की उपस्थिति में भी अपने आत्म-स्वभाव ( ज्ञान, प्रेम, पवित्रता ) का प्रकाश करता है।

चरित्रहीन जीवन निष्फल होता है। धर्म, विज्ञान, कला वस्तुतः चरित्र विकास के साधन मात्र ही है। चरित्र के बिना धर्म तथा आध्यात्मिकता अर्थहीन शब्द है। वृक्ष अपने फल तथा मनुष्य अपने चरित्र से पहचाना जाता है। धर्म को मतो तथा अनुष्ठानो व आध्यात्मिकता को भावुकता तथा रहस्यमयता से जाँचना एक सामान्य भ्रम है, धर्म तथा आध्यात्मिकता की यथार्थ कसौटी चरित्र है। यदि चरित्र है, तो

समझ लो कि जीवन में जो कुछ पाने योग्य था, पा लिया, और यदि चरित्र नहीं तो अन्य सभी कुछ पाकर भी कुछ प्राप्त नहीं किया और इसके बिना धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता का स्वप्न होते हुए भी जीवन व्यर्थ तथा अप्रयोजनीय है।

चरित्र वह अविनश्वर चित्र है जो कि आत्मा प्रकृति के पट पर खींचती है। इतिहास में चरित्र के सिवा और सभी कुछ क्षणिक तथा अस्थायी है। चरित्र न केवल सदा रहता ही है बल्कि भावी कुलों में जीता तथा जीवन देता है, और ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता है, इसका प्रभाव बढ़ता चला जाता है। अत यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है कि चरित्र भौतिक जगत् में आध्यात्मिकता की जीवन्त तथा अमिट तस्वीर है। चरित्र-विहीन व्यक्ति जीता दिखाई देता हुआ भी वास्तव में मृत ही होता है। चरित्रवान् पुरुष सदा जीता है, क्योंकि उसका शरीर निजी तत्वों में लय हो चुकने पर भी उसका चरित्र न केवल मृत्यु से अस्पृश्य रहता है बल्कि मृत्यु द्वारा अधिक जीवन तथा बल प्राप्त कर लेता है।

जहाँ चरित्र नहीं, वहाँ धर्म केवल परलोक की लोरी सुनाया करता है। और आध्यात्मिकता भी कृत्रिम उत्तेजना तथा भावुकता से गम गलत करती है। ऐसा जीवन सच्ची शान्ति तथा आनन्द से कोसों दूर रहता है। परलोकगत स्वर्ग के गीत गाते हुए भी हम नरक में पड़े जलते हैं। सच तो यह है, कि जहाँ चरित्र नहीं है वहाँ स्वयं जीवन ही नरक है और जहाँ चरित्र है, वहाँ जीना ही स्वर्ग है।

जो धर्म-सम्प्रदाय परलोकगत सुखों की आशा दिलाता हुआ वर्तमान जीवन को आनन्दमय नहीं बनाता, वह अलीक तथा गतप्राण है। जीवन्त धर्म वही है जो हमारे जीवन की प्रत्येक गति को आनन्द के उछाले में बदल दे। यह नगद धर्म है, शेष सभी झूठी सान्त्वना तथा उधार है।

सभी गतप्राण धर्म-सम्प्रदाय परलोक-विषयक विभिन्न वार्ताएं सुना-

सुनाकर लोगों में विवाद उत्पन्न करते हुए वर्तमान जीवन-सुधार की ओर असनोयोग फैलाते हैं। मानव हृदय में स्वर्ग (आदर्श जगत्) की जो तस्वीर मौजूद है, वह तो इसी पृथ्वी पर मनुष्य द्वारा निर्मित होने के लिए है। संसार में अविद्या, दुःख तथा बुराई के सामान भी हमारी मानवता को चुनौती दे रहे हैं कि हम उन्हें आलोक, आनन्द तथा भलाई में बदलकर अपनी आध्यात्मिक रासायनिकता को अभिव्यक्त करें। जीवन्त पुष्प खाद की दुर्गन्धपूर्ण गन्दगी को ही अपने सौन्दर्य तथा सुगन्ध में बदलने का साधन बना लेता है। किन्तु कृत्रिम फूल ऐसा नहीं कर पाता। यदि मानवता को धर्म तथा आध्यात्मिकता दरकार है तो केवल इसलिए कि वह हमें संसार की अंधकारमय सामग्री को आलोक, आनन्द तथा प्रेम में रूपान्तरित करने की योग्यता प्रदान करें। यदि वह ऐसा नहीं करते तो वह केवल दिल बहलाने के लिए प्रलोभनकारी धोखों के सिवा कुछ नहीं है।

हम सबमें आनन्द के लिए सहज तथा अमिट पिपासा विद्यमान है और हमारा जीवन परलोक की अलीक आशाओं के भरोसे पर सदा इस प्यास से जलते रहने के लिए तो नहीं है, बल्कि इसलिए कि इस प्यास को बुझाकर नित्य प्रगतिशील आनन्द को संसार में प्रसारित करें और केवल चरित्र में ही वास्तविक नरक को वास्तविक स्वर्ग में परिवर्तित करने की शक्ति पाई जाती है। जब तक संसार में दुःख तथा विपद् का डेरा है तब तक प्रायः चरित्र का अभाव ही है। चरित्र-विकास होते ही मनुष्य स्वयं परम स्वर्ग निर्माण तथा अपने चारों ओर आनन्द विकसित करने का जीवन्त केन्द्र हो जाता है।

"तू भली प्रकार जानले कि जब तेरा चरित्र तथा गुण शुभ हो जाएँगे तब तू स्वयं (तथाकथित) आठों स्वर्ग होगा।" (सूफी अत्तार)

: २ :

# अनन्त विकास

वृक्ष के समान हमारी शारीरिक उन्नति एक सीमा रखती है, किन्तु मानवात्मा अपने विकास की कोई सीमा नही मानती। ज्ञान, प्रेम तथा रचनात्मक शक्तियो पर भला कौन हद लगा सकता ह? मनुष्य के भीतर एक ऐसा बीज विद्यमान है जो असीम सम्भावनाएँ रखता है और जिसकी नित्य प्रगतिशील बहार के लिए कभी शरत्-काल नही है। इसकी अटल विकास गति के सामने कोई बाधा सदा के लिए ठहर नही पाती और न ही कभी उसके लिए मृत्यु है। मनुष्य केवल अपने रूप में ही सीमित है, अपने स्वरूप में वह न केवल असीम है, बल्कि ससीम तथा निस्सीम दोनों से ही अतीत तथा निरपेक्ष है, अन्यथा वह अनन्त प्रगति की योग्यता न रख सकता।

मनुष्य की एक और विशेषता यह है कि यह आत्म-ज्ञान विशिष्ट प्राणी है अर्थात् अपने होने तथा जीने को जानता है। एक ओर यह अपनी न्यूनताओ और दूसरी ओर अपनी असीम सम्भावनाओ को देख पाता है। यह केवल इतना ही नही जानता कि वह क्या है, बल्कि यह भी कि वह क्या हो सकता है। यह अपनी अपूर्णता को इसलिए देख सकता है कि इसे अपनी सम्भाव्य पूर्णता का आदर्श दीख पड़ा है। इतर कोई प्राणी भी अपनी अविद्या, दुर्बलता तथा बुराई को नहीं जान सकता, क्योकि वह असीम पूर्णता की ईंय से वंचित है। किसी भी सीमा की अनुभूति के लिए उस सीमा से परे का ज्ञान भी चाहिए। मनुष्य अपनी त्रुटियो को जानकर ही उनकी निवृत्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। जब कोई चित्रकार या गायक अपने चित्र या स्वर का बार-बार शोधन करता है तो इससे प्रतीत होता है कि वह अपने

सौंदर्य का कोई आदर्श भी रखता है। इसी प्रकार मानव सत्ता का एक बड़ा रहस्य यह है कि उसके सामने असीम पूर्णता का आदर्श मौजूद है, जिसकी ओर मनुष्य बढ़ता हुआ किसी बाधा विघ्न को मानता ही नहीं।

पशुवर्ग केवल वर्तमान क्षण में ही जीते हैं किन्तु मनुष्य वर्तमान क्षण से ऊपर उठकर भूत तथा भविष्य को देखता हुआ अतीत की भित्ति पर वर्तमान में भविष्य का गृह निर्माण करता है और केवल पिछली अभिज्ञताओं को ही नहीं वरन् भूलो, गलतियों तथा फिसलाहटो को भी अपने नैतिक तथा बौद्धिक मन्दिरो के निर्माण में प्रयोग करता है। यह वृक्ष के सदृश किसी दूसरे पुरुष अथवा बाह्य पदार्थों तथा घटनाओं पर ही निर्भर नहीं करता अपितु माली के समान वृक्ष को जानता हुआ उसके विकास की दशा को बदल सकता है तथा उसकी जीवन-गति को घटा-बढ़ा सकता है। वह बाह्य घटनाओं को अपने वश में लाकर अपने भाग्य को उनके अधीन न रखता हुआ स्वय उसका निर्माण करता तथा उसमें परिवर्तन ला सकता है।

सर्वाधिक जानने के योग्य बात तो यह है कि मनुष्य किस वस्तु के *अनुसधान में व्यस्त है, क्योंकि जब तक यह बात नहीं जानता वह आप्त-काम नहीं हो सकता। ससार में अज्ञान से बढकर कोई अधकार नहीं, एव अपरिचय से अधिक कोई दूरता नहीं है। वर्षों के बाद पिता और पुत्र एक खटिया पर लेटे हुए भी यदि एक-दूसरे को पहचानते नहीं, तो वह परस्पर अपरिमेय अन्तर रखते हैं। इसी प्रकार मनुष्य जब तक यह जान नहीं लेता कि उसे पाना क्या है, वह अपने जीवन में असफल ही रहता है।*

जिन्होंने जीवन के मूल-तत्त्व की गवेषणा की है, वह जानते हैं कि मानव वस्तुत अपनी ही खोज में है। वह आत्मानुभूति चाहता हुआ किसी-न-किसी प्रकार के दर्पण में अपना ही चेहरा देखने के लिए व्याकुल हो रहा है। इसका परम ध्येय तथा इष्ट इसके भीतर

ही विद्यमान तो है, किन्तु यह इसे प्रतिफलित रूप में देखने को उत्सुक है। संगीत तथा उसका आनन्द स्वयं गायक के भीतर विद्यमान होने पर भी वह उन्हें अपने से बाहर किसी-न-किसी शब्द द्वारा ही पा सकता है। वह अपने ही गुप्त धन को प्रगट रूप में देखने की खुशी पाना चाहता है। हमारा ध्येय हमसे बाहर नहीं है, किन्तु उसे साक्षात् करने के लिए बाह्य उपकरण दरकार होता है। चित्रकार अपने भीतरी सौंदर्य को ही बाहर चित्रपट पर देखने का अभिलाषी होता है।

इसी प्रकार हमें अपने आत्मधन को भी बाहर करना होगा। बाह्य पदार्थ इसके प्रकाश के साधन होने के लिए हैं। हमारे जीवन के उद्देश्य का स्थान नहीं ले सकते। यदि हमारी विद्या जीवन के उद्देश्य को भूल-कर केवल बाह्य पदार्थों को हथियाने का साधन मात्र होकर हमारे निज-धन को बाहर करने में सहायक नहीं होती तो वह प्रशंसनीय नहीं है। वही विद्या सार्थक है, जो हमें सत्य, प्रेम तथा सर्वोदय के लिए जीना सिखाती है। अब हमें विद्या के परिमाण के स्थान में उसके गुण पर दृष्टि रखनी उचित है।

मानवोन्नति का एक रहस्य यह भी है, कि मनुष्य न तो पशुओं के समान प्राकृतिक सुरक्षा-प्राप्त है, और न ही यह जीवन में पथ-प्रदर्शन के लिए सहज बुद्धि रखता है। इसे तो अपनी ही समझ तथा प्रयत्न से अपने लिए खाने, पहनने तथा रहने की व्यवस्था करनी होती है और अपनी विद्या के उजियारे में काम करते हुए स्वयं अनुभूति प्राप्त करनी पड़ती है। इसे अपना भाग्य अपने हाथ में लेना पड़ा है और इसकी अपरिहार्य्य आत्म-निर्भरता ने ही तो इसकी भीतरी शक्तियों को जागृत करके इसे उद्भावक की पदवी दिलाई है, और इसकी उद्भावन-शक्ति ने इसे इस योग्य बनाया है कि अब यह प्रत्येक देश तथा जलवायु में रहता और जीता हुआ आत्म-निर्भरता से विद्या, विद्या से शक्ति, शक्ति से स्वाधीनता और स्वाधीनता से आनन्द की ओर उत्तरोत्तर

ता चला जा रहा है।

बाहर के अस्थायी पदार्थों की प्राप्ति अपनी सीमा रखती है, कि
त्मोन्नति (चरित्र विकास) की कहीं सीमा नहीं। इसके सा
गति से परे उन्नति, पूर्णता से परे पूर्णता का द्वार सर्वदा खुला है
त्मोन्नति का यथार्थ ध्येय मनुष्य की वर्तमान धारणा तथा कल्प
कहीं परे है।

अनुसार जीता है, बाह्य पदार्थ तथा विषय-सुखों की प्राप्ति के लिए नहीं। और अपनी शक्ति को बाह्य पदार्थों पर लगा देने के स्थान में अपने बाह्य धन को आत्म प्रकाश के लिए इसी प्रकार खर्च कर डालता है, जैसे अग्निशिखा मोमबत्ती को।

वह धर्म तात्विक धर्म नहीं है जो ईश्वर व आध्यात्मिकता को इस लोक अथवा परलोक में धन मान के लाभ का साधन बतलाता है, वह तो एक प्रकार की छिपी हुई भौतिकता तथा पाशविकता ही तो है। धर्म केवल इसलिए दरकार है कि वह मनुष्य को आत्म-लाभ तथा आत्म-प्रकाश का मार्ग दिखला दे।

समस्त आनन्द का उद्गम तो मनुष्य के अपने भीतर ही है। बाह्य पदार्थ तथा घटनाएँ तो उसे बाहर लाने के साधन हो सकते हैं। विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय अपने-अपने सिद्धांतों, अनुष्ठानों तथा बाह्य चिह्नों का प्रचार करते हुए लोगों को यथार्थ आत्मपरिचय के आनन्द से वंचित रखते हैं। किन्तु जब मनुष्य अपने आप में जागरित होकर बाह्य विषयों की वासना तथा बाह्य घटनाओं की दासता छोड़कर आध्यात्मिक प्रेरणाओं के अनुसार जीना आरम्भ करता है तब उसके जीवन में नवीन प्रफुल्लता आने लगती है। उसके भीतर से आनन्द बहना आरम्भ हो जाता है, जो प्रतिक्षण आध्यात्मिक बेपरवाही तथा स्वाधीनता को बढ़ाता है। तब वह बाहर से सुख ढूँढने के स्थान में अपने अन्दर से आनन्द को निःसृत करता है। तब वह व्यवहार में ईर्ष्या तथा प्रतियोगिता को छोड़कर और "सर्वभूतेषुनिर्वैर" होकर "सर्व भूत के हित में रत" होता है और आप यथार्थ रूप से सुखी होकर सभी को सुखी करना चाहता है। इसके हृदय में दारिद्र्य, शारीरिक कष्ट तथा मृत्यु का भय नहीं रहता, बल्कि वह तो निजानन्द के प्राचुर्य तथा उछाले के कारण सर्वोदय के निमित्त दारिद्र्य, कष्ट तथा मृत्यु को भी वरण करता हुआ अपने अन्तरधन तथा स्वातन्त्र्य को प्रमाणित करता है।

: २ :

# चरित्र की परिभाषा तथा आवश्यकता

हम पहले बतला चुके कि चरित्र के बिना मनुष्य को सच्ची खुशी तो दूर परितोष भी नही मिल सकता। शान्ति आत्मलाभ में है और आनन्द आत्मप्रकाश में पाया जाता है। केवल कल्पनात्मक वा आनुमानिक आत्मज्ञान न केवल निष्प्रयोजन है बल्कि यथार्थ आत्मज्ञान की प्राप्ति मे एक बडी रुकावट है। यथार्थ आत्मोपलब्धि यह है कि आत्मसत्ता इसी प्रकार ही साक्षात् अपने आप अनुभव हो, जैसे कि भ्रान्ति के कारण वह देह को अपना आप समझे हुए है, तथा सच्चा आत्मप्रकाश यह है कि दैनिक जीवन में आत्मिक स्वभाव तथा गुणों का प्रकाश हो। जब तक हम भौतिक पदार्थों के लिए तथा उनके अधीन रह कर जीते है, तब तक हमारे भीतर आत्म-जागृति आरम्भ ही नहीं होती।

जब कोई बीज फूटना आरम्भ करता है, तो बाहर से सामग्री इसलिए लेता है कि उसके द्वारा अपने स्वाभाविक गुणों का प्रकाश कर सके। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के भीतर भी आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ होता है, जबकि वह बाह्य पदार्थों तथा घटनाओं को अपने आत्मिक गुणो (ज्ञान, प्रेम, पवित्रता, सौन्दर्य) के प्रकाश का वसीला बनाता हुआ आध्यात्मिक तथा नैतिक घटनाओ को वजूद में लाता है, इसी प्रकाश का नाम ही तो चरित्र है। दूसरे शब्दो में चरित्रवान् पुरुष अपने अदर से जीता हुआ बाह्य घटनाओं तथा पदार्थों को आत्म-प्रकाश के लिए काम में लाता है, किन्तु स्वय उनसे प्रयुक्त नही होता। उसी का आध्यात्मिक बल उसके शरीर तथा प्रतिवेश को प्रभावित करता हुआ स्वय उनसे प्रभावित नही होता। वह अपने निर्दिष्ट नियमो के

अनुसार जीता है, बाह्य पदार्थ तथा विषय-सुखों की प्राप्ति के लिए नहीं। और अपनी शक्ति को बाह्य पदार्थों पर लगा देने के स्थान में अपने बाह्य धन को आत्म-प्रकाश के लिए इसी प्रकार खर्च कर डालता है, जैसे अग्निशिखा मोमबत्ती को।

वह धर्म तात्त्विक धर्म नहीं है जो ईश्वर व आध्यात्मिकता को इस लोक अथवा परलोक में धन-मान के लाभ का साधन बतलाता है, वह तो एक प्रकार की छिपी हुई भौतिकता तथा पाशविकता ही तो है। धर्म केवल इसलिए दरकार है कि वह मनुष्य को आत्म-लाभ तथा आत्म-प्रकाश का मार्ग दिखला दे।

समस्त आनन्द का उद्गम तो मनुष्य के अपने भीतर ही है। बाह्य पदार्थ तथा घटनाएँ तो उसे बाहर लाने के साधन हो सकते हैं। विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय अपने-अपने सिद्धांतों, अनुष्ठानों तथा बाह्य चिह्नों का प्रचार करते हुए लोगों को यथार्थ आत्मपरिचय के आनन्द से वंचित रखते हैं। किन्तु जब मनुष्य अपने आप में जागरित होकर बाह्य-विषयों की वासना तथा बाह्य घटनाओं की दासता छोड़कर आध्यात्मिक प्रेरणाओं के अनुसार जीना आरम्भ करता है तब उसके जीवन में नवीन प्रफुल्लता आने लगती है। उसके भीतर से आनन्द-बहना आरम्भ हो जाता है, जो प्रतिक्षण आध्यात्मिक बेपरवाही तथा स्वाधीनता को बढ़ाता है। तब वह बाहर से सुख ढूँढने के स्थान में अपने अन्दर में आनन्द को निःसृत करता है। तब वह व्यवहार में ईर्ष्या तथा प्रतियोगिता को छोड़कर और "सर्वभूतेषुनिर्वैर" होकर "सर्व भूत के हित में रत" होना है और आप यथार्थ रूप से सुखी होकर सभी को सुखी करना चाहता है। इसके हृदय में दारिद्र्य, शारीरिक कष्ट तथा मृत्यु का भय नहीं रहता, बल्कि वह तो निजानन्द के प्राचुर्य तथा उछाले के कारण सर्वोदय के निमित्त दारिद्र्य, कष्ट तथा मृत्यु को भी वरण करता हुआ अपने अन्तरधन तथा स्वातन्त्र्य को प्रमाणित करता है।

संसार में तब तक प्रतियोगिता, बैर, विरोध तथा संग्राम रहेंगे, जब तक लोग अपना धन तथा आनन्द अपने आपसे बाहर मानते हुए हैं। किन्तु जब मनुष्य अपने आप में जागकर अपनी गरिमा, निज धन तथा आत्मानन्द का रहस्य पा लेगा तब समाज की नींव प्रतियोगिता तथा वैध दण्ड के भय पर होने के स्थान में पारस्परिक प्रेम, सहकारिता तथा उत्सर्ग की अटल चट्टान पर होगी। केवल समाज-अनुमोदित प्रथाओं तथा नियमों के अनुसार भद्रतापूर्वक जीना चरित्र नहीं है। यथार्थ चरित्र बाह्य प्रथाओं के अनुसरण अथवा भय पर आधारित न होकर आन्तरिक ज्ञानलोक, प्रेम, स्वाधीनता का अमर फल होता है। सच्चरित्र मानव अपने लिए आप ही दीपक तथा नियम हुआ करता है। उसके प्रत्येक कर्म का प्रेरक उसके भीतर होता है। यहाँ तक कि समाज की परम्परागत कुप्रथाओं तथा अन्याय-नियमों के विरुद्ध खड़े होकर अपने को तथा अपना सभी कुछ दांव पर लगा देता है।

चरित्र सभी के लिए कल्याणकर होता हुआ इस नारकीय संसार को परम स्वर्ग में बदल सकता है। चरित्र प्रत्येक व्यक्ति को स्वाधीन तथा स्वराट बना देता है। चरित्र ही इस पृथ्वी पर यथार्थ सभ्यता स्थापित कर सकता है। चरित्र ही यथार्थ स्वराज्य, जीवनमुक्ति तथा आध्यात्मिकता है, और यही मानवता का व्यापक धर्म है। चरित्र के बिना आध्यात्मिकता एक खब्त, धर्म एक प्रपञ्च, समाधि एक प्रकार का पलायन, आनन्द मराता तथा उन्नति एक प्रकार का छलावा ही तो है। चरित्र है तो सभी कुछ है, चरित्र नहीं तो कुछ भी नहीं है। यही अटल सिद्धांत है।

: ४ :

# आत्म-परिचय

चरित्र का मन्दिर ज्ञानलोक में ही निर्मित हो सकता है, अन्धकार में कभी नहीं। बाह्य प्रभाव के अधीन तथा अनुकरण द्वारा सदाचारी होना चरित्र नहीं है। जीवन्त चरित्र अपनी जड सदा अपने अन्दर रखता है।

सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि "मैं पुरुष (आत्मा) हूँ, प्रकृति अथवा व्यक्ति नहीं हूँ।" मस्तिष्क (विचारों), हृदय (भावों) तथा शरीर (अभ्यासों) के समुदाय का नाम व्यक्ति है। व्यक्ति में विचार, भाव तथा इच्छा का ऐक्य पाया जाता है, किन्तु वह मनुष्य का यथार्थ अपना आप होने के स्थान में जीवन का एक यन्त्र मात्र ही है। यथार्थ अपना आप (आत्मा) व्यक्ति से वही सम्बन्ध रखता है जो कि बढ़ई अपने हथियारों तथा वादी अपने वाद्ययन्त्र से रखता है। पुरुष अपने भीतर ज्ञानशक्ति, प्रेमशक्ति तथा इच्छा-शक्ति रखता है और व्यक्ति इन आन्तरिक शक्तियों के प्रकाश का अमूल्य यन्त्र है। पुरुष अपने स्वभाव में स्वयं ज्योति, स्वतः सिद्ध, नित्य, आनन्द-स्वरूप, शुद्ध, शांत, अनन्त तथा पूर्ण है। व्यक्ति उस सच्चिदानन्द आत्मा के प्रकाश का एक अनन्त उन्नतिशील यन्त्र है। पुरुष विद्युत है तो व्यक्ति बैटरी है, पुरुष वाहक है तो व्यक्ति वाहन है, आत्मा ज्योति है तो व्यक्ति दीपक है, पुरुष अधिवासी है तो व्यक्ति उसका नित्य परिवर्तनशील वास-स्थान है।

व्यक्तित्व में सदैव प्रकृति के यह तीन गुण पाए जाते हैं :

(क) दृढ़ता—यह एक दैहिक अंश है जो परिपक्व स्वभावों का समुदाय है, इसे ही तमस् कहा जाता है तथा यह जीवन को दृढ़

भित्ति है।

(ख) शक्ति—यह व्यक्ति का भावुक अंश है। इसी से ही व्यक्ति में संविद् तथा गति पाए जाते हैं। जीवन की कल को चालित करने के लिए मानो यह वाष्प व विद्युत है। इसे रजस् गुण कहते हैं।

(ग) सत्व—यह मानसिक अंश है और इसका काम शरीर (स्वभावों), शक्ति (भावों) को सुनियमित तथा सुव्यवस्थित करके इसे विश्वात्मा के साथ एकतान करना है। यह अंश व्यक्तित्व का आलोक है। इसी से ही मनुष्य होता है। इसके बिना वह निपट पशु ही है।

यह तीनों गुण प्रकृति के माने जाते हैं, किन्तु प्रकृति भी पुरुष से भिन्न कोई सत्ता नहीं रखती। यह पुरुष की अपनी ही प्रकृति (स्वभाव) ही तो है। इनमें विभेद तो किया जाता है, किन्तु विच्छेद कभी नहीं, तमोगुण से पदार्थ-जगत् की स्थिति है, रजोगुण से इसकी गति है और सत्व गुण द्वारा इसकी विभिन्न तथा प्रचण्ड शक्तियों में व्यवस्था तथा एकतानता संभव होते हैं। जहां तमोगुण की प्रधानता है, वहां मिट्टी-पत्थर आदि सत्ताविहीन पदार्थ होते हैं, जहां रजस् प्रबल होता है, वहां इन्द्रिय-वृत्ति तथा गति देखने में आते हैं और जहां सत्व को तमस् तथा रजस् दोनों पर प्रधानता होती है वहां विज्ञान, कला, दर्शन, नीति वजूद में आते हैं।

पुरुष इन तीनों गुणों से ऊपर तथा इनका साक्षी और नियन्ता रहकर अपने ज्ञान, प्रेम तथा इच्छा को अपने प्रकाश के लिए नियुक्त करता है। चरित्र का मूल इन तीनों गुणों से ऊपर पुरुष के निज स्वभाव में है, जिसका प्रकाश इनके द्वारा होता है। और यह प्रकाश ही जीवन्त तथा व्यावहारिक आध्यात्मिकता है।

इन गुणों में किसी को भी निन्द्य व व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। केवल सुव्यवस्था तथा उपयुक्त प्रयोग दरकार है। केवल तमोगुण आलस्य तथा सत्ताहीनता है। केवल रजस् उत्तेजना तथा चाचल्य है, और केवल सत्व शक्तिहीन तथा अकर्मण्य है। सार्थक जीवन के

लिए इन तीनों का समन्वय तथा एकतानता प्रयोजनीय है।

यदि व्यक्तित्व को एक वाद्य-यन्त्र कहा जाए तो तमोगुण उसका उपकरण, रजोगुण उसे बजाने की शक्ति और सत्व इसके रव को राग में बदलने वाला है। पुरुष इस अत्यन्त मूल्यवान यन्त्र द्वारा अपने ज्ञान तथा आनन्द को नया से नया प्रकाश करता है।

व्यक्तित्व बाह्य घटनाओं तथा प्रभावों का फल है। हम जब तक अपने को इससे विभिन्न नहीं जानते, इस पर अपने नियन्त्रण द्वारा आध्यात्मिक स्वाधीनता को प्राप्त नहीं कर सकते। जब तक वाद्य-यन्त्र बजाने वाला इस यन्त्र में फँसा रहता है, इसे स्वाधीनतापूर्वक बजा नहीं सकेगा। इसी प्रकार अपने व्यक्तित्व के साथ तन्मय हुआ पुरुष चरित्रवान् नहीं हो सकता।

: ५ :

# यथार्थ विश्वास

बीज का स्वभाव उगना तथा आत्मा का स्वभाव चमकना है। किन्तु जब तक पहले दृढ धरती मौजूद न हो बीज उगकर भी पूर्णतः विकसित नही हो सकेगा। इसी प्रकार जब तक मनुष्य मे यथार्थ विश्वास का अभाव है, तब तक उसका चरित्र ( आत्म-प्रकाश ) भी पूर्णरूपेण उन्नत नही हो पाता।

सत्य विश्वास के तीन मौलिक तत्व हैं और सत्य जीवन की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम इन तत्वों की सत्यता को अपनी अन्तर-ज्योति द्वारा भली प्रकार देख-जाच ले। यदि इनमे हमें पूर्ण विश्वास हो जाए तब चरित्र की नीव सुदृढ, प्रगति सुनिश्चित तथा सफलता अवश्यम्भावी होगी।

**पहला तत्व यह है कि आत्मा अमर है और इसकी उन्नति तथा प्रगति की कहीं भी सीमा नहीं है।** जब तक मनुष्य अपने को बाह्य जगत् तथा अपने व्यक्तित्व से विभिन्न नहीं देख पाता तब तक वह अपने कटस्थ तथा अमर होने में सन्देह कर सकता है, किन्तु जब एक बार भी वह अपने शुद्ध सत्व में स्थित होकर अपनी आत्म-ज्योति से देख लेता है तथा उसे अपने अमरत्व तथा एकरसता मे लेशमात्र भी शंका नही रह जाती। आत्मा का अमरत्व बौद्धिक युक्तियो से सम्पूर्णत. सिद्ध नही हो सकता क्योकि बुद्धि जो स्वय आत्मा से सिद्ध होती है, आत्मा को कैसे सिद्ध कर सकती है ? आत्मा ही तो समस्त (बाह्य तथा अन्तर) जगत् की प्रकाशक ज्योतियो से भी अतिम तथा सर्वोच्च ज्योति है। इसका प्रकाशक कोई दूसरा नही। यह स्वयं ज्योति है तथा ज्योति इसका गुण नही स्वयं आत्मा ही है।

जो व्यक्ति अपने अमरत्व में ही विश्वास नहीं रखता उसके चरित्र की नींव उसके भीतर नहीं होती। वह तो जीवन के दिन भली प्रकार काटने और इसीलिए लोक-संग्रह के निमित्त सद्‌व्यवहार करता है। नीति तथा चरित्र में यही भेद है कि नीति समय तथा बाह्य घटनाओं पर आधारित होती है जबकि चरित्र आत्मा की एकता तथा नित्यता पर प्रतिष्ठित होता है। चरित्र का आरम्भ इस अनुभूति से होता है कि "मैं अकाल विश्वातीत हूँ और निरन्तर प्रगतिशील प्रकाश मेरा अपना स्वभाव है।"

दूसरा तत्त्व चरित्र विधान का यह है कि "सृष्टि में जो व्यापक शक्ति तथा नियम विद्यमान है और जो मेरे भीतर तथा बाहर भी काम कर रहा है वह भलाई के सिवा कुछ भी नहीं है।" यह ठीक है कि संसार में इतने दुख तथा बुराई को देखकर यह मान लेना बहुत मुश्किल है कि जो सत्ता सृष्टि को जीवित रख रही है वह केवल मंगल (भलाई) ही है। किन्तु विचार करने से दीख पड़ेगा कि :—

(क) संसार में अन्त: नेकी की ही विजय होती है। बुराई आकाश पर पहुँचकर भी अवश्य ही गिरती है और गिरकर वही नेकी का वसीला बन जाती है। इस शताब्दी के दो पिछले महायुद्ध यही साक्षी देते हैं।

(ख) यदि नेकी तथा सचाई की अन्तिम जीत न होती तो इतने वास्तविक दुख तथा बुराई के होते हुए संसार का अन्त ही हो चुकता। और यदि जीवन स्वरूपतः आनन्दमय न होता तो कोई प्राणी भी जी ही न सकता और न इतने दुख का भार सहन कर सकता। प्रायः सभी जीव अस्थायी दुख तथा बुराई के होते हुए भी आनन्द से उत्पन्न होकर आनन्द के सहारे जीते हुए आनन्द की ओर ही धावित हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त निर्जीव पदार्थों में विश्वव्यापी सौन्दर्य की झलक भी संकेत दे रही है कि सृष्टि के हृदय में भलाई ही भलाई है और दुख

तथा बुराई का अचिरस्थायी अस्तित्व भी आनन्द तथा भलाई के श्रेष्ठतर प्रकाश के लिए ही है।

(ग) कोई वस्तु भी स्वरूपत तथा सम्पूर्णत बुरी नही है। उपयुक्त प्रयोग तथा व्यवस्था द्वारा प्रत्येक वस्तु भलाई का साधन हो जाती है। स्वय दुख तथा बुराई भी हमारे ज्ञान, शक्ति तथा पवित्रता के साधन हो जाते है। ससार में केवल निरपेक्ष बुराई कही देखने में नही आती। यदि कोई साहसी तथा बलवान् पुरुष औरो को दुखी करता है तो उसमें साहस तथा बल का होना तो कोई बुराई नहीं है अपितु त्रुटि है तो केवल सहानुभूति और प्रेम के अभाव की। या कोई व्यक्ति बिना विचार तथा विवेक क अन्धाधुन्ध दान करता है तो उसमें प्रेम तथा उदारता तो पाए जाते है, कमी है तो विवेक तथा विचार की। कोई मनुष्य भी नितान्त बुरा उत्पन्न नही हुआ, यदि उसमें कोई बुराई दीख पडती है तो उसमें किसी न किसी आवश्यक सद्गुण का अभाव अवश्य है। बुराई कोई भावात्मक अस्तित्व नही रखती। किसी खूबी की कमी ही दुख का कारण होती है तथा फिर वही दुख ही उस अभाव की निवृत्ति के लिए मजबूर करके भलाई का ही एक साधन बन जाता है।

तत्वदर्शी लोग बुराई में भी गुप्त नेकियो के बीज देख पाते है। गीता की यह घोषणा कि "द्यूत छल्यतामस्मि" (मै छल करने वालो में जूआ हूँ) एक अत्यन्त साहसपूर्ण घोषणा है, जो एक गभीर सत्य अपने भीतर रखती है।

जब हम पुल पर दौडते या वायुयान में निर्भय होकर उडान करते है तब हमें सृष्टि नियम में पूर्ण विश्वास होता है, इसी प्रकार चरित्रवान् व्यक्ति भी सर्वोदय के व्यापक तथा अटल सत्य के आधार पर किसी भी दुख, विरोध तथा असफलता की परवाह न रखता हुआ सकटापन्न रूप से जिया करता है। विश्वास के बिना हम अपने आदर्श की ओर दृढतापूर्वक बढ नही पाते। जितने भी महापुरुष हो गुजरे है वह चाहे ईश्वर सत्ता में विश्वास न भी रखते हो, तो भी वह नेकी

तथा भलाई की अन्तिम विजय में अटल विश्वास रखते थे।

चरित्र विकास का तीसरा तत्त्व है कि मनुष्य जैसा बोएगा वैसा काटेगा, जैसा सोचेगा वैसा ही हो जाएगा। जिस प्रकार यह एक ध्रुव सत्य है कि हमारी सत्ता अविनश्वर तथा सृष्टि का गंभीरतम नियम भलाई है, इसी प्रकार यह भी अक्षरशः सत्य है कि हम जिस प्रकार चाहें अपने को बदल तथा बना सकते हैं। अपने विचार तथा क्रिया द्वारा हम प्रतिक्षण अपने लिए स्वर्ग व नरक तैयार कर रहे हैं तथा हमारी अपनी सत्ता ही हमारे प्रत्येक विचार तथा कर्म को फल देती है। बाहर कोई हिसाब-किताब रखने तथा फल देने वाला अभिकर्ता नहीं है और हम अपनी सत्ता के इन अटल नियम से कहीं भाग नहीं सकते। जिस प्रकार अपने शरीर से भागना असंभव है, इसी प्रकार हम अपने मानसिक तथा दैनिक कर्मों तथा उनके फलों से पलायन नहीं कर सकते।

जब तक हमारा व्यवहार इस भ्रम पर आधारित है कि कोई अन्य सत्ता है, जो हमारे विचारों तथा कर्मों का हिसाब-किताब रखती तथा पुरस्कार व दण्ड दिया करती है, तब तक हमारे चरित्र की भित्ति दुर्बल भूमि पर ही है। हाँ, जब हम इस सत्य को स्पष्ट रूप में देख पायेंगे कि हमारी अपनी सत्ता ही, जो विश्व सत्ता के साथ एक है, हमारे प्रत्येक विचार तथा कर्म का फल देने वाली है और कर्मफल में किसी भी सिफारिश तथा जादू को दखल नहीं है, तब हमारा चरित्र-मन्दिर तत्वज्ञान की अचल नींव पर खड़ा होता है। यही विश्वास ही नरक में जलते हुए पुरुष को नव आशा द्वारा नवजीवन दे सकता है। 'मनुष्य किसी अवस्था में भी इस तात्त्विक विश्वास को पाकर जो चाहे कर सकता है तथा जैसा चाहे बन सकता है। किसी को शाश्वत नरक में न तो डाला गया है और न डाला जाएगा। प्रत्येक हृदय में स्वर्ग का बीज गुप्त रूप में विद्यमान है, जिसे उगाने तथा विकसित करने की क्षमता दरकार है। मनुष्य अपना तारा आप ही है तथा इसका भाग्य

इसके अपने हाथ में है, ग्रहों के हाथ में नही। इसे तो केवल अपने आप तथा अपनी परिस्थिति की ओर जाग उठने की आवश्यकता है। किंतु जब तक वह अपने से अलग व अन्य किसी काल्पनिक सत्ता की ओर उत्तरदायी बन रहा है, तब तक वह अज्ञान-निद्रा में पडा सोता है।

: ६ :

# साहस तथा निर्भयता

सच्चा विश्वास साहसप्रद होता है तथा मनुष्य को अकुतोभय बनाता है। जहाँ साहस तथा निर्भयता ही नहीं, वहाँ चरित्र कहाँ होगा? चरित्र वनी दुःख, संकट, हानि तथा मृत्यु की परवाह नहीं करता। क्योंकि उसके मूल में यह अटल विश्वास पाया जाता है कि मैं अमर तथा अनन्त प्रगतिशील हूँ। विश्व-जगत् की सभी शक्तियां तथा सृष्टि के सभी नियम नेकी तथा भलाई के पक्ष पर आधारित हैं। मैं अपना भाग्य-निर्माता हूँ और कोई भी मेरे भाग्य को बनाने तथा बिगाड़ने वाला न है और न हो सकता है। विजय तथा सफलता सुनिश्चित है। यदि मैं चाहूँ तो अपने ध्येय पर पहुँचने में विलम्ब तो कर सकता हूँ, किंतु उससे सदा के लिए दूर नहीं रह सकता तथा न ही कोई मुझे उससे दूर रख सकता है। आनन्द तथा अमृत मेरी अपनी सत्ता के दो रूप ही हैं, किसी की क्या मजाल कि मुझ से मेरी शुद्ध सत्ता, मेरी विमल ज्योति, मेरा निजानन्द तथा मेरा अमृत मुझसे छीन सके। मैं जहाँ तथा जिस अवस्था में भी रहूँ परमानन्द तथा अथाह अमृत-सागर मुझमें तरंगायित है, तथा दुःख और मृत्यु इसे उछाला देने के साधन ही तो हैं। विविध प्रकार के संकट मुझे डराने के लिए नहीं प्रत्युत मेरी अनन्त शक्ति को जगाने तथा उभारने के लिए हैं। अपमान तथा हीनता मुझे अपमानित करने के स्थान में मेरी गरिमा को और भी चमकाते हैं। कोई भी प्रतिकूलता मुझे दबाना तो दूर मेरी प्रेमशक्ति के प्रकाश को सुअवसर प्रदान करती है तथा कोई भी रुकावट मेरी प्रगति को रोकने के स्थान में मेरी असीम तथा गुप्त शक्ति को जगाने, तथा व्यक्त करने का दुर्लभ साधन हो जाती है।

भय एक प्रकार की दीमक है, जो चरित्र के वृक्ष को खाती हुई उसे फूलने फलने नही देती। हानि, दारिद्रय तथा हार का भय हमसे झूठ बुलवाता, झूठी गवाही दिलवाता तथा हमें धोखाबाजी सिखलाता है। दुख का डर ही हमें सन्मार्ग पर चलने नही देता। हीनता का भय हमें सत्य के प्रकाश से रोकता है। कष्ट तथा मृत्यु का डर ही हमें आत्मोत्सर्ग से रोकता है, कारागृह तथा निर्यातन का भय हमें स्वाधीनता के जन्माधिकार से वचित रखता है। बदनामी तथा प्रतिकूलता का त्रास हमें कुप्रथाओ का सुधार करने नही देता। शारीरिक सत्ता मिट जाने का डर ही पुरुष को, जो वस्तुत विश्वपति है, प्रकृति के अत्यन्त तुच्छ पदार्थों का दास बना देता है। सम्भ्रम तथा सम्पत्ति खोने का डर मनुष्य को, जो स्वरूपत प्रकृति का भर्ता तथा दाता है, दीन, हीन, भिखारी बना देता है। दूसरो से कुचले जाने की आशका ही हमारे भीतर सन्देह तथा वैर के भावो को जन्म दिया करती है। पराजय का खौफ ही तो इस ससार को रणभूमि बनाए हुए है। भय ही हमारे अन्दर अनेक वासनाओ को उत्पन्न करता हुआ हमें तृष्णा के ताप से सतप्त रखता है। जहाँ भी भय है, वहीं नरक है, जहाँ डर नही वहाँ ही स्वर्ग हो सकता है, दैवी सम्पत्ति में "अभय" को प्रथम स्थान प्राप्त है। गीता का यह कथन पूर्णत सत्य है कि जिसके भीतर सशय है उसे न तो जीवन में सुख प्राप्त होता है और न मरण के पश्चात् ही। सशय तथा विश्वास इकट्ठे नही रह सकते। इसी प्रकार जहाँ डर पाया जाता है वहाँ सत्य, चरित्र तथा सार्थक जीवन के लिए कोई स्थान नहीं है।

भय के वातावरण में अनुकारी तथा दासोचित नीति तो रह सकती है किन्तु चरित्र कभी नही। नीति तथा चरित्र में इतना ही तो अन्तर है, कि नीति नितान्त पक्ष में शान्ति को ही सुरक्षित रख सकती है, किन्तु उन्नति तथा प्रगति का जीवित आनन्द नही दे सकती। कृतार्थ जीवन के लिए केवल नेक तथा साधु-स्वभाव होना पर्याप्त नहीं

है, बल्कि साहसपूर्ण तथा निर्भीक होना भी आवश्यक है। शक्ति सदा ही प्रतिकूलता तथा संघर्ष के मुकाबिले में ही जागा करती है। आध्यात्मिकता का विकास हमेशा दुःख तथा संकट की उपस्थिति में ही हुआ करता है। अकृत्रिम आनन्द तथा शक्ति का रहस्य संकट, विपद्, संकुल तथा शंकाजनक घटनाओं में जीना है। इस जीवन में अथवा तदुपरान्त सुख तथा आराम की चाहना आध्यात्मिकता के लिए भयानक विष है।

: ७ :

# चरित्र के तीन मुख्य सद्गुण

चरित्र का अर्थ आत्म-प्रकाश है। परन्तु प्रचलित धर्म-सम्प्रदाय भय तथा आशा को ही धर्म-जीवन के प्रवर्तक बतलाते हैं। साधारण नीति तो केवल लोकसग्रह स्थापन के निमित्त नियमावली रचा करती है, किन्तु चरित्र का ध्येय लोक अथवा परलोक में कहीं कुछ बाहर से पाने के स्थान में केवल आत्म-प्रकाश ही है। पुरुष अपने जीवन-दर्पण में अपनी तसवीर देखने का अभिलाषी है। वह अपने व्यक्तित्व का वाद्य-यन्त्र बजाकर अपना ही जीवन-सगीत सुनना चाहता है। चरित्र कभी भय तथा लोभ के अधीन काम नहीं करता। वह तो पुष्प के सदृश जब तक जीता है, अपने सौन्दर्य तथा सौरभ को ही लुटाया करता है। चरित्रवान् पुरुष इस ससार में बादल के समान सभी के ऊपर अपना प्रसाद वर्षाया करता है। उसे लोक तथा परलोक में किसी भी वस्तु की कामना नहीं होती, यदि वह बाह्य पदार्थों का उपार्जन भी करता है तो केवल इसलिए कि वह उनके द्वारा अपने आध्यात्मिक धन को व्यक्त कर सके और वह भी केवल इसलिए कि उसे देख-देखकर औरों में भी अपने आत्मधन, शक्ति तथा आनन्द की अनुभूति जागृत हो जाए। यदि वह किसी को ज्ञान देता है तो उसे अपना चेला तथा मूक दास बनाने के स्थान में उसे अपने ही अन्तरगुरु का दर्शन कराने के लिए और यदि वह किसी को उसकी जीवन-आवश्यकताएँ जुटाता है तो उसे वशीभूत करने के लिए कभी नहीं, बल्कि उसे आत्म-निर्भरता सिखाने के निमित्त ही ऐसा करता है। सच्चरित्र जीवन का मूलतत्व देना है लेना नहीं। यदि वह कुछ लेता भी है तो केवल उसे आत्मदान के उपकरण में बदलने के लिए ही। यदि वह दूसरो से

मेल-जोल रखता व सम्बन्ध स्थापित करता है तो उनसे कुछ लेने की अभिलाषा से नहीं बल्कि केवल इन सम्बन्धों को अपने प्रेम के बहाव के लिए नालिकाओं में परिवर्तित करने के लिए ही ऐसा करता है।

संसार में चरित्र के प्रकाश के लिए व्यक्तित्व के यन्त्र का होना आवश्यक है। यह यन्त्र बना-सँवारकर व बचाकर रखने के स्थान में उपयुक्त प्रयोग के लिए है। और इस यन्त्र की रचना ही ऐसी हुई है कि यह निश्चेष्टता तथा गतिहीनता से उलटा मलावृत हो जाता है। अतः जहाँ हमें व्यक्तित्व की पुष्टि तथा रक्षा करनी होगी, वहाँ इसका मोह जीवन की सफलता में बाधक होगा। केवल अपने व्यक्तित्व में ही अपना जीवन मानने वाले नरम तथा नाजुक लोग कभी सच्चरित्र जीवन का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। चरित्र विकास के निमित्त अपने क्षुद्र 'अहं' को निर्दयता के साथ गँवाने वाले ही यथार्थ आत्मलाभ कर सकते हैं, दूसरे नहीं। व्यक्तित्व का श्रेष्ठतम अंश सत्व (मन) है। मन के द्वारा ही मनुष्य अपनी ज्ञानशक्ति का प्रकाश करता है। किन्तु इस आत्म-प्रकाश के लिए आवश्यक है कि यह अंश पूर्णतः विमल तथा स्वच्छ हो। इसी विमलता तथा स्वच्छता को ही सचाई तथा अकपटता कहते हैं और यह गुण ही बाकी सद्गुणों का मूलाधार है।

दूसरा अंश हमारी भावुक सत्ता (रजस्) है। जब यह अंश आत्म-ज्योति की किरणों से आलोकित होता है, तब समस्त भावुकता प्रेम में रूपान्तरित हो जाती है। यथार्थ आध्यात्मिकता इस अंश के निर्मूलन का उपदेश देने के स्थान में ज्ञानालोक द्वारा इसके सभी विकारों की निवृत्ति करके प्रेम का प्रकाश करना सिखलाती है। चरित्र इस अंश को समस्त पाशविक भावों से शुद्ध करता हुआ विश्वव्यापी प्रेम के अत्यन्त मूल्यवान यन्त्र में बदल देता है।

व्यक्तित्व का निकृष्टतम किन्तु वैसा ही आवश्यक अंश शरीर (तमस्) है। इस भौतिक यन्त्र द्वारा ही हम अपने ज्ञान तथा प्रेम को दूसरों तक पहुँचाने तथा बाह्य जगत् को अपनी इच्छानुसार बदलने के

लिए सक्षम होते हैं। हम जड किन्तु जीवन्त देह को इसकी अन्ध तथा आनुवशिक प्रवणताओ को उन्मुक्त करके इसके द्वारा दूसरो की वास्तविक सेवा तथा भलाई करते हैं। शरीर अपनी नैसर्गिक दशा में तो केवल अपना जीवन तथा इसकी सुरक्षा चाहता है। किन्तु जब हम इसकी स्वार्थपरता को परार्थपरता में बदल देते है तब यही पशु ही हमारी इच्छा-शक्ति का एक वश्य वाहन हो जाता है।

व्यक्तित्व के इन तीनो अशो द्वारा ससार में सत्य, प्रेम तथा सेवा का जीवन होना सच्चरित्र की असली बुनियाद है। यह व्यक्तित्व क्या है, मानो एक अत्युत्तम तथा परम अद्भुत तृतारा वाद्य-यन्त्र है। जिस के तीनो (सत्य, प्रेम, भलाई) स्वर जीवन का अत्यन्त मधुर राग अलापते हुए चारो ओर आनन्द विकीर्ण करते है।

## (क) सत्य

सत्य से परे कुछ नही, जिस प्रकार बिना आलोक वृक्ष फूल-फल नहीं सकता इसी प्रकार सत्य के बिना जीवन सफल तथा सार्थक नही हो सकता। जिस घर की दीवारें ही लम्बित न हो, उसकी ऊँचाई प्रतिक्षण गिरने की ओर झुकाव रखेगी। इसी प्रकार सत्यविहीन जीवन में सतत पतन की आशका बनी रहती है।

जीवन में सत्य की उपलब्धि तथा सत्य के प्रकाश के लिए आवश्यक है कि हम सर्वोपरि सत्य को चाहते हो। निष्कलक, बेरग, साफ तथा समतल दपण में ही पदार्थ प्रतिफलित हुआ करते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति सत्य को ही ध्येय बनाता हुआ किसी प्रकार का भी स्वार्थ, पक्षपात व अभिमान नही रखता, उसके मन में स्वय जीवन के उच्चतम तत्व प्रकाशित होने लगते हैं और जब तक मन में कोई स्वार्थपरक कामना व कोई भी साम्प्रदायिक पक्षपात व किसी प्रकार का व्यक्तिगत, वशगत अथवा जातिगत अभिमान पाया जाता है, तब तक उसमें सत्य की प्रतिछाया की योग्यता ही नही होती। जब किसी ताल का जल निर्मल, शात तथा स्थिर हो, तब उसमें

आस-पास के महान् तथा आश्चर्यजनक दृश्य तथा आकाशगत चन्द्र-सूर्य स्वयं प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार ही जब हमारा मन शारीरिक स्वभाव के गदलेपन तथा पाशविकता के उद्वेगों से रहित तथा स्थिर होता है, तब उस पर सत्य तथा प्रत्यादेशों का द्वार खुल जाता है। सत्य की प्राप्ति के लिए तो केवल भूख और तड़प चाहिए, इसके पीछे धावित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपने मन को स्वार्थपरता की मलिनता से शुद्ध तथा इसमें से भावोद्वेग तथा विक्षेप को दूर करके सर्व प्रकार के पक्षपात तथा गर्व को छोड़कर धैर्य तथा शान्ति सहित सत्य प्रकाश के निमित्त प्रतीक्षाकारी हो रहो।

आत्मा सब सत्य का अटूट भंडार है, जो चाहोगे प्राप्त होगा। यदि द्वार खटखटाओ तो अवश्य खुलेगा। सत्य ज्ञान की वृद्धि का एक उपाय यह भी है कि अपने आपको व्यक्तित्व से भिन्न जानकर उसे उदासीन साक्षी भाव से देखा करो। अपने व्यक्तित्व को न तो हद से बढ़कर बड़ाई की और न ही घृणा की दृष्टि से देखो, बल्कि इसे यथावत देखने का प्रयत्न करो। सच्चाई की खातिर अपने सुख-दुख, मान-अपमान, हानि लाभ तथा हार-जीत की परवाह न करो। अपने व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखने वाली चीजों को अकारण भली और दूसरों से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं को बुरी समझने का स्वभाव त्याग दो। स्वमत को इसलिए बड़ाई मत दो कि वह तुम्हारा मत है। इसी प्रकार दूसरों के मत को भी निरपेक्ष भाव से देखा करो। अपनी स्तुति सुनकर न फूलो और न ही अपनी आलोचना सुन या पढ़कर क्रोध करो, अपनी स्तुति, निन्दा पर दृष्टि न रखते हुए केवल सत्य अनुसन्धान किया करो। यही ज्ञानालोक पाने का रहस्य है।

वस्त्र को तन से उतारकर ही प्रक्षालित किया जा सकता है। इसी प्रकार व्यक्तित्व को अपने से विभिन्न करके ही इसकी शुद्धि सम्भव होती है। जब तक व्यक्तित्व (निगुण) को ही अपना आप मान रखा है, तब तक सत्व शुद्धि तथा साक्षात् सत्य-दर्शन की सम्भावना नहीं है

मन तो सत्याविष्कार का यन्त्र है, किन्तु वाक् तथा क्रिया इसके प्रकाश के साधन हैं। वाणी तथा कर्म में जितनी सत्यता होगी, मन में सत्य ग्रहण की उतनी ही योग्यता होगी। इसके विरुद्ध जब वाक् तथा क्रिया में सत्य का प्रवेश न होगा, तब मन पर भी नूतन तथा उच्चतम सच्चाइयों का द्वार रुद्ध रहेगा।

चरित्र किसी अवस्था में भी झूठ बोलने की अनुमति नहीं देता। सत्य की खातिर केवल अपनी जान ही नहीं यदि विश्वजगत् भी न्योछावर हो जाए तो भी हानिकर सौदा नहीं होगा। "विवादकारी सत्य की अपेक्षा शान्तिकारी झूठ ही अच्छा है।" यह लोकोक्ति साधारण नीति का ही एक टोटका है, चरित्र का तत्त्व नहीं है। चरित्र सतत् भीतर से ही जीता हुआ इस अटल विश्वास पर दण्डायमान होता है कि अन्ततः सत्य में ही हरएक की तथा सभी की भलाई है। सारा जगत् ही सत्य प्रकाश का ऐसा ही साधन है, जैसा कि अग्नि के लिए ईंधन। विश्वजगत् सत्य के लिए है। सत्य अपने आप ही समर्थन है। इसीलिए चरित्रवान् पुरुष फल की परवाह न करता हुआ अटल निश्चय रखता है कि अन्त में सर्वोदय सत्य में ही है।

बोलने तथा काम करने में परिमाण के स्थान में गुण पर दृष्टि रखो। अन्यथा कथनोपकथन तथा क्रिया की सत्यता अक्षुण्ण न रह

वह बाहर के चमकीले पदार्थों के पीछे धावित रहता है। किन्तु जैसे ही वह अपने आप में जाग उठता है, वह आत्म-ज्योति के सम्मुख सूर्य, चन्द्र को भी जुगनू के सदृश तुच्छ जानता है।

ज्ञान की पूर्णता इस बात में है कि विश्वजगत् की अनन्त विचित्रता में पूर्ण एकत्व दिखाई देने लगे तथा बाह्य जगत की निरन्तर अदला-बदली के मध्य में एकरस आत्मतत्त्व का दर्शन हो। जब तक हमें केवल बाह्य अनैक्य तथा परिवर्तन ही प्रतीत हो रहे हैं तब तक ऊपर-ऊपर का ही ज्ञान है सत्य ज्ञान नही। अपरिमेय विचित्रता तथा निरन्तर परिवर्तन में एक अद्वैत नित्य निर्विकार तत्त्व की अनुभूति ही सम्यक् ज्ञान है। और जब यह ज्ञान प्राप्त हो जाए, तब समझ लो कि हमारे व्यक्तित्व का मानसिक अंश सफल हो चुका अर्थात् इससे हमने जो काम लेना था ले लिया है।

## (ख) प्रेम

पशुवर्ग केवल अपनी तथा अपने वंश की रक्षा चाहते हैं। जो आत्म-चैतन्य मनुष्य में पाया जाता है, वह पशुओं में नही है। पशु भी जीता तथा जानता है किन्तु अपने होने तथा जीने को नही जानता। वह स्वयं अपनी सत्ता का अध्ययन नही कर सकता। उसमें भी तीनों गुण पाए जाते हैं। तमस् उसकी शारीरिकता में, रजस् उसके भावों में, तथा सत्व उसकी इन्द्रिय अनुभूति तथा सहज-बुद्धि में प्रकाशित होते हैं। किन्तु पशु इन गुणों से ऊपर नही उठ सकता। वह तो केवल शारीरिक स्वभावों, राजसिक भावों तथा सहज-बुद्धि के अधीन अपनी तथा अपने वंश की रक्षा के निमित्त जीता है। उसमे यह सामर्थ्य नहीं कि वह त्रिगुणातीत साक्षी होकर अपने तथा औरों के जीवन का पर्यवेक्षण कर सके। इसीलिए पाशविक जीवन का नियम परस्पर संग्राम तथा मारधाड़ ही है।

किन्तु मनुष्य का मनुष्यत्व ही इस बात में है कि वह त्रिगुणातीत होकर तथा अपनी विशेष सत्ता की तंग कोठरी से बाहर निकलकर सत्य

के अनन्त आकाश में उड़ान करता हुआ अवैयक्तिक दृष्टि से अपने तथा दूसरों के जीवन का अध्ययन कर सकता है। वह ज्ञान-चक्षु से देख सकता है कि विश्वजगत् में एक ही सत्ता, शक्ति, जीवन तथा नियम विद्यमान हैं। प्राणीमात्र उसके समान ही जीवन तथा आनन्द चाहते हुए मृत्यु तथा दुख से भागते हैं। और वह समझ सकता है कि दूसरों को सुख देने से अन्ततः अपना सुख तथा दूसरों को दुख देने से अपना ही दुःख पैदा करता है क्योंकि समस्त जगत् पिन्डम एकम् अखण्डितम् है। और मानव-जीवन का नियम पारस्परिक प्रतिवाद तथा सग्राम के स्थान में विश्वव्यापी प्रेम तथा पारस्परिक सहायता है।

असल बात यह है कि जब मानसिक स्तर पर एकत्व ज्योति जगमगाती हुई भावुक स्तर पर अपनी किरणें डालने लगती है तो उसके रासायनिक प्रभाव द्वारा पाशविक कामनाओ तथा भावों में रूपान्तर होने लगता है। और समस्त कामनाओ तथा भावों का केन्द्र ही बदल जाने से जो कामनाए केवल स्वार्थ पर ही केन्द्रित थी, वह सर्वोदय में परायण हो जाती है। तथा जो भाव केवल निजी सुख के लिए थे, और दूसरो की प्रतियोगिता के लिए पुलकित हुआ करते थे, अब अपने भीतर प्रेम की राह में रुकावटों का मुकाबिला करने लगते हैं। इस प्रकार समस्त भावुक सत्ता प्रेममयन्त्र में परिवर्तित हो जाती है। द्वेष, क्रोध, बैर के आसुरी भाव अपना रूप बदलकर प्रेम, दया, सहानुभूति तथा क्षमा हो जाते हैं।

सर्वमय ज्योति के प्रभाव द्वारा भावुक सत्ता के रूपान्तरित हो जाने पर हमारे जीवन का दृष्टिकोण ही बदल जाता है। तब हम प्रतियोगिता के स्थान में प्रेम के लिए जीना आरम्भ करते हैं। और दूसरों की दीनता-हीनता को अपनी सफलता का माप न बनाते हुए सर्वोदय के निमित्त इसी प्रकार सहकारिता का जीवन व्यतीत करने लगते हैं जिस प्रकार शरीर का कोई भी स्वस्थ अङ्ग उस शरीर के सभी अंगो के सामूहिक कल्याण के लिए जिया करता हैं।

इस अवस्था में मनुष्य अपने जीवन को वर्षों से मापने के स्थान में अपने प्रेम की वृद्धि तथा विस्तार से मापा करता है। वह अपनी सफलता का अनुमान इस बात से नहीं लगाया करता कि उसने दूसरों से क्या कुछ लिया व कितने लोगों को अपना अधीन बनाया है, बल्कि इस बात से कि कितना कुछ औरों को दिया व उन्हें ऊपर उठाया है। वह आत्मोपमा से,ही सबके सुख-दुख को अनुभव करता हुआ किसी से विद्वेष नहीं रखता। मैत्री तथा करुणा उस निर्मम, निरहंकार पुरुष का स्वभाव हो जाते है, और इसलिए वह कर्त्तव्य के स्तर से भी ऊपर उठकर सहज भाव से जिया करता है।

प्रेम है क्या ? वही जीवन-तत्त्व जो मानसिक स्तर पर सर्वात्मैक्य के रूप में उद्भासित हुआ था, वही भाविकता के स्तर पर प्रेम का रूप धारण कर लेता है। यदि हमें मानसिक ऐक्य दिखाई देने पर भी भाविकता के स्तर पर काम, क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, वैर के आसुरी भाव बने रहें तो समझ लो कि हमारा ज्ञान ऊपर-ऊपर का ही है और उसने अभी तक हमारे मन के ऊपरी भाग को ही स्पर्श किया है; हमारे हृदय में प्रवेश नहीं कर सका। एकत्व दर्शन की अपेक्षा व्यापक प्रेम गंभीरतर सत्य है। यदि हमारा बौद्धिक ज्ञान प्रेम में परिणत नहीं होता तो हमने ज्ञान को अभी चखा ही है; उसे आत्मसात नहीं कर पाए और हमारी नैसर्गिक पाशविकता अभी तक आध्यात्मिकता में रूपान्तरित नहीं हो पाई।

शुष्क ज्ञान सर्वैक्य को केवल देखता है, किन्तु प्रेमी इसमें जीता है। ज्ञान तो केवल पथ-प्रदर्शन ही करता है। किन्तु प्रेम इस क्षुरस्य धारा पर चला करता है। प्रेम में परिणत हुए बिना ज्ञान केवल बौद्धिक संतोष ही दे सकता है। यथार्थ जीवन तथा आनन्द कभी नहीं।

जिस प्रकार वृक्ष को फूटने, बढ़ने तथा हरा-भरा रहने के लिए जल दरकार होता है, इसी प्रकार चरित्र अपने विकास के निमित्त प्रेम चाहता है। प्रेम ही आध्यात्मिकता का प्राण है। प्रेम ही सर्व के

साथ वास्तविक ऐक्य स्थापन कर सकता है । प्रेमामृत को प्रतिक्षण पान किए बिना जीवन-वृक्ष हरा-भरा तथा सुन्दर नहीं रह सकता ।

## (ग) सेवा

## (ज्ञान तथा प्रेम का व्यावहारिक फल)

जब स्वत्व शुद्धि द्वारा देख लिया, कि विश्वजगत् वस्तुतः एक ही सत्ता, एक ही शक्ति, एक ही जीवन, एक ही मन तथा एक ही अद्वैत आत्मा की अभिव्यक्ति है, सभी पदार्थ परस्पर अगा-अगी सम्बन्ध रखते है, कोई वस्तु भी किसी वस्तु से चाहे वह किसी भी देश-काल में हो सम्पू र्तः पृथक् नही है तथा जब सर्वैक्य ज्योति ने मन की राह से हृदय में प्रवेश करके भावुकता को प्रेमयन्त्र में बदल दिया तब प्रेम शारीरिकता के स्तर पर एक और क्रान्तिकारी रूपान्तर की रासायनिक शक्ति दिखलाता है । अब तक तो शरीर केवल व्यक्तिगत स्वरक्षा तथा मगल की ही प्रवणता होने से जीवन का नियम परस्पर प्रतियोगिता तथा संग्राम ही था, किंतु अब तो जीवन का केन्द्र ही व्यक्तिगत से अवैयक्तिक में स्थानान्तरित हो जाने पर सारी-की-सारी शक्ति सर्वहित व्यय होने लगी है । अब परस्पर मार-धाड़ के वन्य नियम के स्थान में परस्पर सेवा, सहायता तथा उत्सर्ग का मानविक नियम काम करने लगा है, और शरीर जो अब तक अपने अन्ध स्वभावो व आसुरी तथा पाशविक भावों तथा उमंगो का दास चला आता था, अन्तरात्मा की दिव्यशक्ति का यन्त्र हो गया है । इससे पहले तो मनुष्य यही समझे हुए था कि सर्वभूत उसके व्यक्तिगत जीवन की सेवा करने के लिए है । किंतु अब वह अपने व्यक्तित्व को सर्वभूत के हित का यन्त्र जानता है । अब केवल अपने लिए ही जीना उसे मृत्यु प्रतीत होता है, और इस प्रकार जीवन-केन्द्र व्यष्टि से समष्टि में स्थानान्तरित होकर सर्वभूत के साथ काल्पनिक अथवा भावुक ही नही प्रत्युत वास्तविक तथा व्यावहारिक सामंजस्य स्थापन करता है । पहले तो

सामाजिक जीवन केवल सघर्ष का ही जीवन था और इसकी प्रत्येक गति धीमा व ऊँचा शोर ही उत्पन्न करती थी। किंतु अब नव-जन्म होने पर तथा रव के सगीत में परिवर्तित हो जाने पर सामाजिक जीवन भी आनन्दमय हो जाता है। और अब जीवन एक प्रकार का दण्ड होने के स्थान मे पुरस्कार का रूप धारण कर लेता है।

यदि इस पृथ्वी पर हमारा सामाजिक जीवन परस्पर प्रतियोगिता के स्थान में परस्पर सहायता के तत्व पर स्थापित हो जाए तो यही जीवन्त वास्तविक स्वर्ग ही नही बल्कि परम स्वर्ग प्रत्यक्ष गोचर हो जाएगा। जब तक मानव-समाज में प्रतियोगिता का सम्बन्ध है तब तक सामाजिक जीवन यथार्थ नरक ही तो है। इसमें सघर्ष तथा शोर के सिवा कुछ नहीं है, किंतु यदि परस्पर प्रतियोगिता के जगली नियम को छोड़कर व्यक्ति तथा समाज परस्पर सहायता तथा सेवा को ही मानविक जीवन का नियम मानकर जीना आरम्भ करें तो सर्वत्र मिलाप तथा सहकारिता ही दिखाई देंगे। और यही दु ख तथा सकट-पूर्ण ससार ही परम लोक बन जाएगा।

यहाँ मानवता का जन्म ही पृथ्वी पर स्वर्ग के निर्माण तथा अव-स्थिति के लिए है। स्वर्ग क्या है, आदर्श तथा नित्य प्रगतिशील जगत् की मानवीय योजना ही तो है। कहीं आकाश में तो इसका स्थान नहीं है।

किंतु धर्म के नाम पर दुकानें खोलने वालो ने सर्वसाधारण को यह पट्टी पढ़ा रखी है कि इस ससार में दुख तथा अमगल के सिवा कुछ नही है। हाँ, यदि सुख-प्राप्ति की आशा की जा सकती है तो मरणोपरान्त स्वर्ग मे जाने पर ही, इससे पहले वहाँ तथा कभी नहीं। यह अलीक विश्वास प्राचीनकाल से मानव-सभ्यता तथा प्रगति में बाधक होता चला आया है, क्योकि यह मनुष्य को तथ्यता से पलायन का पाठ पढ़ाता हुआ उसके मनोयोग को एक अवास्तविक तथा काल्प-निक जगत् की ओर ले जाता है। किंतु अब विज्ञान हमारी आँखें

खोलने लगा है। प्रतिदिन नए-नए आविष्कारों का होना इस नव आशा का सन्देश दे रहा है, कि हम परस्पर सहकारिता तथा अपनी ज्ञान-शक्ति के प्रयोग से अब तथा यहीं स्वर्ग निर्माण कर सकते हैं। मनुष्य केवल एक सृष्टि जन्तु ही नहीं प्रत्युत सृष्टिकारी आत्मा भी है केवल यन्त्र ही नहीं, यान्त्रिक भी है। और इसलिए वह इस लोक तथा अपने वर्तमान जीवन को ही यथार्थ स्वर्ग तथा मोक्ष में बदलने को सक्षम है।

अब ससार मे नवजागरण के चिन्ह दिखाई देने लगे है और मनुष्य समझने लगा है कि वह अन्ध तथा परम्परागत रूढ़ियों से मुक्त होकर अपने लिए एक नव ससार की रचना कर सकता है क्योंकि विज्ञान ने सिद्ध कर दिया कि जगत् की सभी प्रकाण्ड शक्तियाँ मनुष्य की सेवा के लिए ही है तथा मनुष्य अपनी विज्ञान-प्रदत्त शक्ति द्वारा सृष्टि का नक्शा बदल सकता है।

परलोकवाद ने मनुष्य को इस तथ्य की ओर जागृत होने से अब तक रोक रखा था कि मनुष्य को जिस स्वर्ग तथा मोक्ष का ख्याल आता रहा है, वह इसी पार्थिव जीवन की सभाव्य अवस्था का ही नाम है। हमें स्वय यहीं स्वर्ग-निर्माण तथा जीवन मोक्ष का अनुभव करना होगा। आगे व फिर कहीं और कभी नहीं। यदि स्वर्ग तथा जीवन-मोक्ष की सभावना यहाँ नहीं तो कहीं भी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति यदि वह चाहे तो विज्ञान तथा चरित्र द्वारा यहीं पूर्ण शान्ति तथा आनन्दलाभ कर सकता है। युग-युग में अनेक लोग प्रेम तथा निष्काम सेवा का जीवन व्यतीत करके ससार में कभी प्रकट होने वाले आनन्द का पूर्वाभास प्राप्त कर चुके है जबकि सर्वसाधारण का जीवन परस्पर प्रतियोगिता तथा सग्राम पर आधारित चला आता है। ससार में हमारी अपनी पाशविकता के कारण वास्तविक तथा असहनीय दुःख देखकर ही अब तक ससार में वैराग्य पर इतना बल दिया गया है, जबकि जीवन का परमानन्द जगत् तथा जीवन की स्वीकृति में है, पलायन में कभी नहीं। यदि हम किसी वाद्य-यन्त्र का बजाना न

जानते हों, तो उसके बजाने पर अवश्य ही शोर तथा दुख होगा। किंतु यदि हम उसे भली प्रकार से बजाना जान लें, तो वह सभी के लिए आनन्ददायक हो जाएगा। इस प्रकार हमें जीवन के अस्वीकार के स्थान में जीवन-कला में प्रवीण होने की आवश्यकता है। इससे प्रत्येक व्यक्तिगत जीवन आनन्दमय हो जाएगा और इस प्रकार का सामूहिक जीवन तो सारे संसार को ही सुख से प्लावित कर देगा।

: ८ :

# बाधाएँ

जिस स्वर्ग-राज्य का चित्र प्रत्येक मनुष्य के हृदय में अंकित है, और इसलिए जिसका ख्याल मनुष्य को हरएक देश तथा काल में आया करता है, किस कारण से अब तक पृथ्वी पर कहीं भी स्थापित नहीं हो पाया ?

इसका मुख्य कारण यह है कि अब तक संसार में यथार्थ मानवीय चरित्र का विकास नहीं हो पाया, और ऐसा होने के मुख्य कारण यह है—

## (क) शिक्षा की अव्यापकता

जहाँ शिक्षा ही नहीं, वहाँ मानवता कहाँ होगी ? अविद्या हमें तामसी पथराव तथा राजसी पाशविकता से ऊपर उठने नहीं देती। शिक्षा के बिना विचार-शक्ति सुप्त ही रहती है। जिस प्रकार गृह-निर्माण के लिए उपकरण की आवश्यकता हुआ करती है, इसी प्रकार सोच-विचार से पहले कुछ जानकारी तो आवश्यक है। मूर्ख तथा अशिक्षित लोगों ने तो मान रखा है कि संसार में जो कुछ हो रहा है, तकदीर से हो रहा है। अपनी तदबीर तथा सोच-विचार तो उल्टे दुःखदायी तथा विघ्नकारी होते हैं। शान्ति का सहज उपाय यही है कि जो कुछ सिर पर गुजरे, बिना प्रतिकार के उसको सहन किया जाये। व्याधि, दुःख तथा विपद् सभी कुछ दैवाधीन हैं। मनुष्य कर ही क्या सकता है ? व्यावहारिक दानाई इसी में है कि—

> सब काम अपना कर दे तकदीर के हवाले,
> अपनी नजर में कोई तदबीर है तो यह है।

किन्तु आज सुशिक्षित जातियाँ अपना भाग्य-निर्माण करने में व्यस्त हो रही हैं। वह व्याधि, दारिद्रय, अशान्ति, अत्याचार के समूल उत्पादन के लिए तत्पर हो रही हैं। उनके सामने कोई विघ्न तथा बाधा ठहरने नहीं पाती तथा उनकी निरन्तर प्रगतिशील सफलता विस्मयजनक तथा अनुप्राणनकारी है।

## (ख) अयथार्थ शिक्षा

प्राचीन शिक्षा की नींव अतीत पूजा तथा बाह्य मान्यता पर थी। उसमें उपदेश देने तथा रटाने पर तो बड़ा बल दिया जाता था, किन्तु परीक्षा तथा स्वतन्त्र विचार के लिए कोई स्थान न था। मानसिक भोजन तो ठोस दिया जाता था, किन्तु पाचन-शक्ति को बढ़ाने तथा प्राणशक्ति को जगाने की ओर ध्यान अत्यल्प था। इस शिक्षा-प्रणाली के फलस्वरूप बड़े-बड़े पण्डित और विद्वान् तो पैदा हो जाते थे, किन्तु किसी को स्वयं सोचने, रचनात्मक आलोचना तथा भविष्य रचना करने का ख्याल ही न आता था। उन्होंने अतीतानुसरण तथा अन्धानुकरण को ही अपना जीवनादर्श मान रखा था। मसीह, मुहम्मद, कबीर तथा परमहंस रामकृष्ण में विचारशक्ति का अलौकिक उद्बोधन इसलिए संभव हुआ था कि उन्हें प्रचलित शिक्षा पाने का अवसर न मिला था। अन्यथा वह भी अतीत के पुजारी तथा अन्ध परम्परा के अनुगामी रहकर आत्मशक्ति को इतने परिमाण में न जगा पाते।

यथार्थ शिक्षा बाहर से ही ज्योति को ग्रहण करने पर सन्तुष्ट न होती हुई अन्तर ज्योति को जगाना तथा बाहर फैलाना सिखाती है। वह केवल अनुकरण तथा अनुसरण के लिए ही तैयार न करती हुई हमें अपने लिए आप सोचना तथा जाँचना बताती है। वह केवल इतना ही नहीं सिखाती कि "क्या सोचना चाहिए" बल्कि यह भी बताती है कि "किस प्रकार सोचना चाहिए।" "आत्मदीपो भव" यही यथार्थ शिक्षा का मूलमन्त्र है।

## (ग) साधारण नीति को ही यथेष्ट मान लेना

यह बात स्पष्ट है कि जब तक समाज का संस्थापन स्वार्थपरता तथा प्रतियोगिता पर है, तब तक प्रतिपग तथा प्रतिक्षण संघर्ष, युद्ध तथा अशान्ति की सम्भावना बनी ही रहेगी। इन खराबियो के रोकने व घटाने के लिए ही साधारण नीति का जन्म हुआ है। यह नीति हमें दूसरो के स्वत्व तथा अधिकार पर हाथ उठाने से वर्जित करती हुई एक सीमा तक दया तथा दान करना सिखलाती है। इस प्रथाजनित नीति का भित्ति प्रस्तर "पहले आप और फिर कोई दरवेश" है। इसका उद्देश्य केवल लोक-सग्रह है। यह सर्वसाधारण-ग्रहीत नीति तथा न्याय पर तो बल देती है, किन्तु साम्य तथा सहकारिता, परस्पर सहायता व उत्सर्ग पर नही। जो कोई सम्पत्ति भी प्रथा व पैतृकतानुसार किसी के अधिकार में आ चुकी है, वह उसकी न्याय-सगत मिलकियत मानी जाती है। और जिन अभागो के पास न तो कुछ खाने, न कोई घर रहने के लिए और न ही कुछ शरीर ढाँपने तथा सन्तान के पालन-पोषण व शिक्षा के लिए है, उनकी तनिक सहायता को ही एक सराहनीय गुण मानते हुए उनके दारिद्र्य के समूल उत्पादन की किसी को चिन्ता ही नही होती।

ऐसी साधारण नीति, नि सन्देह, लोकसंग्रह के लिए उपयोगी तथा सहायक होती है। किन्तु यह समाज की मारात्मक तथा मज्जागत व्याधियों के दूरीकरण में असमर्थ है। साधारणत. समाज के इन रोगों का दमन किया जाता है। परन्तु दमन की कुनीति द्वारा यह रोग समूल क्षय होने के स्थान में बलात् बाहर आकर भयानक युद्धो का रूप धारण करके विश्वशान्ति को नष्ट कर देते है। साधारण व प्रथागत नीति ऋणात्मक गुण तो रखती है अर्थात् एक सीमा तक खराबियों के पैदा होने, बढने व बाहर आने को रोकती है, किन्तु इसमें धनात्मक गुण नही होता और इसलिए यह समाज को भीतरी स्वास्थ्य तथा आनन्द नहीं दे सकती। प्रचलित शिक्षा तो यही नीति बतलाती है।

चरित्र के जन्म तथा विकास म सहायक नही होती ।

## (घ) प्रथाजनित धर्म के निद्राजनक प्रभाव

मनुष्य में ससीम के समान निस्सीम को जानने की इन्द्रिय विद्यमान है। सत्य धर्म का सम्बन्ध इसी आन्तरिक इंद्रिय से है। वह मनुष्य की इसी आध्यात्मिक इन्द्रिय को जगाकर उसे ससीमता के बन्धन से मुक्त करता हैं। किन्तु परम्परागत धर्म तो इस मानवीय इन्द्रिय को उद्‌बुद्ध तथा मुक्त करने के स्थान में उलटा-सुलटा देता है। इसके विभिन्न अनुष्ठान तथा इसकी अनेक मान्यताएँ बाँधने के ऐन्द्रजालिक पाश ही तो हैं। यह मनुष्य को अपनी दृष्टि से देखने, अपनी बुद्धि से सोचने व जांचने तथा स्वच्छन्दतापूर्वक जीने का अवकाश ही नही देता।

यह प्रचलित धर्म सम्प्रदाय मनुष्य की दृष्टि को प्रकृति तथा वास्तविकता की ओर खोलने के स्थान में इसे विशेषतया अपने-अपने धर्म-ग्रथों में अन्धविश्वासी बनाकर चरित्र निर्माण की शिक्षा न देते हुए, बाह्य अनुष्ठानो तथा चिह्नो की ड्रिल ही सिखलाया करते है। और हमें अपने अन्तर-गुरु की बधिर तथा हमारी वास्तविक परिस्थिति की ओर से अन्धा करते और हमें उदासीन तथा हताश बनाते हुए परलोक-वाद के सब्ज बाग दिखलाया करते हैं। परिणाम स्वरूप हमारी शक्तियाँ तथ्यता की ओर से सुप्त रहकर व्यर्थ मार्गों में लगी रहती हैं और हमें ससार तथा जीवन-सुधार व प्रगति का ख्याल ही नही आता।

यदि ससार में धर्म की आवश्यकता तथा उपयोगिता है तो केवल इसलिए कि वह समस्त मानव-जाति को एक परिवार से बदल्कर इसे सर्वोदय के लिए परस्पर सहकारिता तथा सहायता के भाव से अनुप्राणित करने में सफलता लाभ करे। मानवता की आध्यात्मिक एकता ही यथार्थ तथा परमपूज्य भगवान् हैं, मानवता से बाहर तथा उसके सिर पर कोई अन्य भगवान् नही हैं, धर्म का असली कार्य मनुष्य को उसकी अपनी मानवीय दिव्यता तथा एकता में जगाकर सर्वभूत के कल्याण के लिए जीने की शिक्षा देना है। इसे उद्‌बुद्ध करना है, न

कि लोरी देकर सुला देना। किन्तु आज धर्म के नाम पर ही इतना भेद-भाव, विद्वेष तथा वैर-विरोध उत्पन्न किया जा रहा है कि मानवता को अपनी अखण्ड एकता भूल ही गई है।

ऐसे धर्म-सम्प्रदाय ही गुरुडम को जन्म देकर और लोगों को भेड़ बकरियों के समान अपने अनुचर बन कर इन्हें जिस प्रकार चाहते हैं, नचाते हैं। वह वस्तुत लोगों में उनके मनुष्यत्व को जगाने के स्थान में उनसे मनुष्यत्व ही छीन लेते हैं अर्थात् उन्हें स्वय सोचने तथा आत्मनिर्णय का अधिकार ही नहीं देते। यदि लोग गुरुडम के जाल से मुक्त हो जाएँ तो ससार में आधा स्वर्ग तो आज ही अवस्थित हो जाए।

मानवात्मा स्वय इस पृथ्वी पर स्वर्ग का बीज है। इसी से ही स्वर्ग निर्गत होगा। इसके अतिरिक्त बाहर स्वर्ग कभी और कहीं नहीं हो सकता। यह तो मानव-जीवन का ही अन्तिम फल है। आत्मा में निर्माण की सम्भावना का नाम ही तो परमात्मा है। आत्मा तथा परमात्मा दो पृथक सत्ताएँ नहीं हैं। आत्मारूपी अमर बीज ही फूटकर ससार में चारों ओर ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य तथा आनन्द विकसित करता है तथा समस्त मानवीय व आध्यात्मिक मूल्यों का यही अक्षय तथा अशेष उद्गम है। अविद्या, कुशिक्षा, प्रथागत नीति, अनुकारी धर्म-सम्प्रदाय तथा गुरुगीरी इस अव्यय बीज के फूटने, फलने तथा फूलने में बाधक हो रहे हैं।

•

: ६ :

# आध्यात्मिकता का स्वरूप

बीज, मृत्तिका तथा जल से मिश्रित होकर ही अपने गुप्त स्वभाव तथा गुणों को व्यक्त कर सकता है। ठीक इसी प्रकार पुरुष तथा प्रकृति के मिलाप का रहस्य भी यही है कि प्रकृति की राह से आत्म-गुणों (जीवन, ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, आनन्द) का प्रकाश हो सके। संसार में जीवन तथा वास्तविक स्वर्ग की उत्पत्ति केवल पुरुष व केवल प्रकृति से सम्भव नहीं है। इन दोनों के यथोचित सम्बन्ध में ही इसकी सम्भावना है। पुरुष-प्रकृति, आत्मा-जगत, ब्रह्म-माया एक-दूसरे से अलग कोई अस्तित्व नहीं रखते। प्रकृति पुरुष की अपनी ही शक्ति है तथा यह कोई बाह्य उपाधि नहीं, जो ब्रह्म को लग गई है। यह तो ब्रह्म का अपना ही स्वभाव है। पुरुष तथा प्रकृति के मध्य में उपयुक्त सम्बन्ध स्थापित होने में ही इस लोक में तथा वर्तमान काल में स्वर्ग, जीवन-मुक्ति, परमानन्द, ज्ञान, विज्ञान, कला, धर्म, नीति, साहित्य का जन्म तथा विकास सम्भव होता है।

जीवन-मुक्ति का आनन्द केवल ज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। इस संसार से सदा के लिए छूट जाने (जन्म-मरणरहित होने) में यथार्थ मोक्ष नहीं। प्रत्युत क्षुद्र अहंता तथा स्वार्थपरता की सीमा-बच्छिन्नता से बाहर आना है। ज्ञान से मुक्ति का आरम्भ ही होना है। क्योंकि ज्ञान दिखा देता है कि क्षुद्र अहं भाव (अस्मिता) एक अविद्याजनित भ्रम है। वस्तुत. समस्त सत्ता, शक्ति, जीवन, मन एक तथा अखण्ड है। और जब यह ज्ञान-लोक (स्वत्व) अपने से निचले स्तर रजन् में प्रवेश करता हुआ हमारी भावुक सत्ता को विशुद्ध तथा व्यापक प्रेम में बदल देता है तब हम यथार्थत. क्षुद्र अहं-भाव

से किसी परिमाण में मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जब तक व्यवहारतः हमारा जीवन स्वार्थमूलक है तब तक मुक्ति की झलक ही दीख पडती है। हाँ, जब हमारा प्रेम केवल भावुकता के स्तर से भी नीचे अभ्यास (शरीर) मे भी संचार कर पाता है तब हमारा जीवन निष्काम सेवा, परस्पर सहायता तथा आत्मोत्सर्ग का रूप धारण कर लेता है, और यही जीवन-मुक्ति है, जीवन से नही जीवन को अपने क्षुद्र अहभाव तथा स्वार्थपरता से मुक्ति है, इसमें जन्म-मरण का भय नही होता। यह जीवन के भार तथा उत्तरदायित्व से पलायन के स्थान में जीवन की साहसपूर्ण स्वीकृति है। केवल उदासीन साक्षी, निगुणातीत, दायित्व-विहीन, अकर्मण्य, सम्बन्धहीन नि संकल्प अथवा बालकवत, उन्मादवत, व पिशाच हो रहने में यथार्थ मोक्ष नही। यह तो मुक्ति नही विलुप्ति है। यथार्थ मुक्ति जीवन के स्वीकार, प्रज्ञा, प्रेम, निष्काम कर्म, उत्तरदायित्व, साहस तथा सम्बन्ध में है। ज्ञान की परख क्रिया से होती है, हमारा काम तीनो गुणो से अलग हो रहने के स्थान में इन्हें यथाक्रम ज्ञान, प्रेम तथा सेवा में सार्थक करना है। जीवन-मुक्ति निष्काम कर्म से आरम्भ होकर भक्ति मार्ग से गुजरती हुई ज्ञान पर समाप्त होने के स्थान में ज्ञान से आरम्भ होकर प्रेम मे परिणत होती हुई, सेवा में पूर्णता लाभ करती है, इससे पहले नही। जीवन-मुक्ति भूलोक से उठकर ब्रह्मलोक की ओर जाने के स्थान में ब्रह्मलोक से अवतरण करती हुई इसी भूलोक को ही परमधाम में रूपान्तरित कर देती है। समाज में चारो ओर दु ख, संकट तथा अशान्ति देखकर इससे भागने का मार्ग ढूंढना भीरुता, कापुरुषता तथा पराजयवाद (Defeatism) के सिवा कुछ भी नही। समाज छोडकर वनो को धावित होना व गुहाओ में छिप रहना, यही घोषणा करता है कि न तो हमने जीवन-मुक्ति लाभ की है और न हमारा जीवन सार्थक हुआ है।

अत आध्यात्मिकता की परख उस सेवा तथा आत्मोत्सर्ग से होती है जो तत्वज्ञान पर आधारित तथा प्रेम द्वारा अनुप्राणित हो। प्रेम

तथा कार्यात्मक सेवा के बिना मोक्ष की इच्छा स्वार्थपरता की पराकाष्ठा है। ज्ञान, सेवा का मार्ग दिखलाता है। जबकि प्रेम सेवा के लिए प्रेरणा तथा बल देता है। भय तथा लोभ से की हुई सेवा वस्तुतः सेवा होती ही नहीं।

१० :

# कर्मयोग

प्राय कर्मयोग को तृमार्ग में एक विशेष मार्ग अथवा साधन माना जाता है। किन्तु सहज कर्म स्वय उद्देश्य तथा साध्य वस्तु है। यह सचमुच जीवन-योग तथा जीवन-मुक्ति है। क्योंकि कर्म द्वारा ही हमारे अदृश्य ज्ञान तथा प्रेम को अभिव्यक्त होने का अवकाश मिलता है। जब कोई गायक गाता है तो वह अपने गुप्त आनन्द को मुक्त करता है। इसी प्रकार केवल कर्म द्वारा ही हमारा जीवन मुक्ति-लाभ करता है, अन्यथा हमारी सभी शक्तियाँ निश्चेष्टता के अन्धकार में ही आवृत तथा रुद्ध रहती है।

सच्चरित्र व्यक्ति जो भी काम करता है, वह न तो व्यर्थ होता है, न हानिकारक। वह सर्वोदय के निमित्त हुआ करता है। और स्थूल रूप से यह रूप धारण कर सकता है —

(क) वह किसी न किसी वस्तु का साक्षात् उत्पादक हो यथा कृषक, शिल्पकार, कारीगर, राज, ग्रथकार, लेखक, वक्ता, अध्यापक इत्यादि। इस अवस्था में उसे यही ध्यान रखना होगा कि जो वस्तु भी उत्पन्न तथा आविष्कृत की जाए वह प्रयोजनीय तथा बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से उभारने वाली हो, सर्वसाधारण के लिए स्थायी मूल्य रखती हो तथा इसके द्वारा लोगो में श्रेष्ठ गुणो की रुचि विकसित हो।

(ख) जिन वस्तुओ को उत्पन्न किया जाए, उन्हें ससार भर में वितरण किया जाए। दुकानदार, व्यापारी लोगों का यही व्यवसाय हुआ करता है। यदि हम ऐसे कामों को कर्म-योग के भाव से करना चाहते हो तो हमें इन वस्तुओ को अधिक लाभ के निमित्त दबाकर नही रखना होगा, प्रत्युत हमारा काम तो इन वस्तुओ को अभावग्रस्त

लोगों तक पहुँचाकर इस वितरण कार्य का मुनाफा भी उन्हें ही देना होगा। स्वयं तो केवल अपने निर्वाह के लिए कुछ ही मुनाफा लेना होगा और सरापन तथा सचाई इस व्यवहार का मूलाधार होंगे। उदाहरणतः यदि तुम दुकानदार हो तो तुम्हारी दुकान सभी के लिए सम्भवतः सुविधाकारक हो। मुनाफे को उचित सीमा के अन्दर सीमित रखा जाए। स्वयं अपने माल की परख करके देखो कि प्रत्येक वस्तु हितकर तथा प्रयोजनीय तो है, ऐसा न हो कि उसे खरीदने के पश्चात् खरीदार को खिन्न होना पड़े।

(ग) सुरक्षा व्यवस्थापक, यथा पुलिसमैन, वकील, विचारकर्त्ता तथा न्यायकर्त्ता सुरक्षात्मक कार्यों में न्याय तथा सत्य पर सर्वदा दृष्टि रखें। यदि तुम वकील हो तो न्याय के पक्ष पर खड़े होकर तुम्हें झूठी बातें घड़ने, झूठी गवाही की पट्टी पढ़ाने के हीन तथा लज्जास्पद काम से दूर रहते हुए केवल सच्ची घटनाओं को ही न्यायालय में पेश करना होगा।

इन तीन प्रकार के व्यवसायों में से अपने लिए जो भी चुनो, वह शोषण तथा प्रबलता के स्थान में दूसरों की सेवा तथा भलाई के लिए ही चुना जाय। हमारे काम का उद्देश्य कमाई या निजी मुनाफे के निमित्त नहीं, बल्कि सेवा तथा भलाई का एक बहाना है। किसी कार्य का आरम्भ करने से पूर्व उसके आदर्श तथा विशेष गुण का निर्णय करके तदनुसार अपने काम के खरे व खोटे होने की परख किया करो।

यथार्थ जीवन का नियम यही है कि हम अपने प्रतिवेश से जो कुछ भी ग्रहण करें, उसी के रूप में अपने आप का वितरण कर दें और यदि हम कमाई भी करें, तो उसे अपने ही पास सुरक्षित रखने के स्थान में दूसरों की भलाई में लगाकर अपने प्रेम धन को बढ़ाएं।

जिन देशों में साम्यवाद व समाजवाद की व्यवस्था लागू हो रही है वहाँ निजी मुनाफे का प्रश्न कोई अर्थ व महत्व ही नहीं रखता। वहाँ तो जीवन का यही एक सुनहरी नियम है कि प्रत्येक

व्यक्ति समाज को अपनी योग्यतानुसार दिया तथा अपनी आवश्यकतानुसार उससे लिया करें। और यही व्यावहारिक सर्वात्मैक्य ज्ञान होने में सभी का भला तथा कल्याण है। भारत भी इस सुव्यवस्था को लागू करने का अटल निश्चय कर चुका है।

: ११ :

# मुदिता

यदि हमारी छाती में साहस तथा निर्भयता, मन में सत्य तथा ज्ञान, हृदय में उच्च भाव तथा सहानुभूति और कार्यों में निःस्वार्थ सेवा और उदारता पाए जाएँ, तो अवश्य ही हमारे भीतर से निजानन्द उछलता हुआ, हमें सर्वदा प्रसन्न तथा आह्लादित रखेगा, तथा हमारा जीवन खिन्नता, बदमिजाजी तथा चिड़चिड़ेपन से मुक्त आह्लादमय होगा। तब हम औरों के लिए हितकर होंगे, बल्कि हमारे दर्शनमात्र से ही दूसरों को हर्ष होगा और वे हमारी ओर आकर्षित होंगे।

चरित्र का आरम्भ साहस तथा निर्भयता से होकर आनन्द तथा आह्लाद पर समाप्त होता है। जहाँ अन्य सभी शुभ गुणों की विद्यमानता पर भी जीवन में मुदिता तथा आनन्द का आविर्भाव न हो वहाँ समझ लो कि अभी स्वस्थ जीवन दूर है। अर्थात् चरित्र के किसी-न किसी पक्ष में कोई दोष व त्रुटि अवश्य पाई जाती है।

पुष्प, चरित्र की स्वस्थता तथा पूर्णता का अति सुन्दर दृष्टान्त पेश करता है। सच्चरित्र मनुष्य मानवता का फूल होता है। दोनों में अन्तर है तो केवल इतना ही कि फूल अपने सौन्दर्य तथा आनन्द से बेखबर होने के कारण अन्त में इन गुणों को खो बैठता है। जबकि प्रबुद्ध पुरुष दुख, संकट, व्याधि, जरा तथा मृत्यु की उपस्थिति में भी अपनी प्रसन्नता को न केवल अक्षुण्ण रखता है वरन् अधिकतर व्यक्त करने का सुअवसर पाता है। यहाँ तक कि वह अपनी मृत्यु के पश्चात् भी लगातार बहने वाले अक्षय आनन्द की धारा बहा जाता है।

प्रसन्नता केवल हमारा एक पवित्र कर्त्तव्य ही नहीं, बल्कि हमारे आध्यात्मिक स्वास्थ्य का दूसरा नाम है। जहाँ मुदिता नहीं है, वहाँ

आध्यात्मिकता कहाँ ? क्योंकि जीवन का परम निगूढ रहस्य आनन्द ही तो है।

"आनन्द से ही इन प्राणियो की उत्पत्ति होती है, आनन्द के सहारे ही यह जीते तथा आनन्द की ओर ही लौटते है।"

आनन्द के प्रकाश का नाम ही तो प्रसन्नता है। यदि आनन्द का अभाव है तो निश्चय ही सम्यक् ज्ञान का भी अभाव है। यदि ज्ञान है, तो कल्पना मात्र है, यथार्थ नही, प्रेम है तो वह केवल भावुकता है और यदि सेवा है तो वह दिखावा है व स्वार्थमूलक है, निष्काम व नि स्वार्थ नही है।

बाह्य नीति निरानन्द हो सकती है तथा प्रसन्नता-विहीन फीकी आध्यात्मिकता भी सम्भव है। किन्तु यथार्थ तथा सर्वांग सम्पूर्ण चरित्र कभी आनन्दरहित नही होता। यदि भीतर आनन्द, मुख पर प्रसन्नता, कार्य में आह्लाद, वर्त्ताव में भव्यता तथा चाल-ढाल में सुन्दरता और उत्कृष्टता पाए जायें, तब तो मौखिक उपदेश करने की आवश्यकता ही न होगी। हमारा जीना ही प्रभावजनक तथा कार्यकर उपदेश होगा, जीवन्त चरित्र अपनी वाग्मिता में अतुलनीय तथा अपने फलोत्पादन में अक्षीयमान हुआ करता है। ससार को वही लोग ऊपर उठाते तथा जीवन प्रदान किया करते हैं, जो अन्य ग्रन्थ लिखने के स्थान में अपना जीवन-ग्रथ पीछे छोड जाते है।

प्रसन्नता को अक्षुण्ण रखने तथा बढ़ाने का एक और साधन यह है कि जीवन में काम तथा विश्राम के अतिरिक्त कुछ नियत समय निर्दोष खेलो में लगाया जाय। चतुष्पाद जन्तुओ, पक्षियो तथा बालकों में निरीह क्रीडा की सहज प्रवणता देखी जाती है। खेल में हमारी गति-विधि किसी आवश्यकता के अधीन होने के स्थान में भीतरी आह्लाद द्वारा हुआ करती है। खेल खेलते समय हम विमल आनन्द में जिया करते है और खेल है भी क्या ? निरीहतापूर्वक सहज आनन्द से जीने का अभ्यास ही तो है। किंतु खेल में *बौद्धिक कौशल भी साथ हो तो*

वह और भी हितकर होता है।

इसी प्रकार गायन, कविता-प्रवृत्ति, ललित कलाओं के प्रिय उद्देश्य भी जीवन में आनन्ददायक होते हैं। छू-छू की आध्यात्मिकता तो खेल व दिल्लगी को सहन नहीं कर सकती। किन्तु चरित्र इन निर्दोष व्यवहारों को जीवन में उचित स्थान देता है। संसार के बड़े-से-बड़े महापुरुष भी बालकों के साथ खेला करते थे। संगीत तो सच-मुच आत्म-भोजन है।

जीवनानन्द का एक अभ्रान्त गुर यही है कि जहां कहीं भी आत्मा की तीनों प्रधान शक्तियां (ज्ञान, प्रेम, इच्छा) सम्मिलित रूप से तीनों गुणों ( सत्व, रजस्, तमस्) द्वारा एकतानता सहित अपना-अपना काम करती है, वहां आनन्द अवश्य ही विद्यमान होता है, तथा आनन्द ही ज्ञान की सम्यकता तथा प्रेम की विशुद्धता की अमोघ कसौटी है।

: १२

# तीन मुख्य बुराइयाँ

यदि हम चरित्र को एक पौधे की उपमा दे सकें, तो आत्मा इसका बीज है, अहंकार इस बीज का छिलका है, विश्वास भूमि है, ज्ञान आलोक तथा आतप है, प्रेम इसकी खुराक है, सेवा इसका फल है, और आनन्द इसकी शोभा है। किन्तु इन अनुकूल जीवन-साधनों के अतिरिक्त ऐसे काँटे भी विद्यमान हैं, जो इसे खाते तथा विषाक्त करते हैं। यदि इनसे पौधे को न बचाया जाय, तो न केवल इसकी सत्ता ही शंकाजनक होगी बल्कि इसकी यथोचित वृद्धि भी असम्भव होगी।

इन विभिन्न प्रकार के कीटों में सर्वाधिक विषैले तीन प्रकार के कीट अर्थात् बुराइयाँ हैं। और वह यह हैं—

(क) विचारशून्यता—यह बुराई ज्ञान का अभाव प्रकट करती है।

(ख) स्वार्थपरता—यह बुराई प्रेम-शक्ति की कमी बतलाती है।

(ग) आलस्य—इससे इच्छा शक्ति की दुर्बलता का पता लगता है।

जहाँ यह तीनों व इनमें से कोई भी एक अथवा दो बुराइयाँ पाई जायँ, वहाँ समझ लो कि वृक्ष को घुन खाए जाता है। ऐसा वृक्ष न तो कभी पूर्णत सफल होता है और न अपनी विशेष शोभा का प्रकाश कर पाता है।

विचारशील पाठक उपरोक्त कथन से ही समझ जाएंगे कि बुराइयाँ कोई धनात्मक सत्ता नहीं रखतीं। इनकी सत्ता सदा ऋणात्मक ही हुआ करती है। अर्थात् यह किसी-न किसी सद्गुण की त्रुटि व

अभाव होती है। परन्तु इसके अतिरिक्त समझने के योग्य बात यह है कि जहाँ कहीं तथा जब कभी कोई बुराई बलवती प्रतीत होती है तो उसकी पृष्ठ पर किसी-न-किसी सद्‌गुण का सहारा अवश्य होता है और इसी सद्‌गुण से ही वह बल प्राप्त करती है।

दृष्टान्त के तौर पर देखो कि एक जबरदस्त डाकू में सत्य तथा प्रेम की त्रुटि तो पाई जाती है किन्तु उसके भीतर प्रबल इच्छा-शक्ति तथा साहस भी तो पाये जाते हैं। इन गुणों का अभाव होने हुए वह कभी भी जबरदस्त डाकू नहीं बन सकता था और यदि उसी डाकू में सत्य तथा प्रेम की कोई त्रुटि न रहे तो उसी में साधुता तथा महानता का आविर्भाव होने लगेगा।

अन्धकार के समान बुराई भी कोई धनात्मक सत्ता अथवा शक्ति नहीं रखती। यह जहाँ कहीं देखने में आती है अवश्य ही इसमें किसी-न-किसी खूबी का अभाव तथा त्रुटि हुआ करती है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य में वस्तुतः कुछ भी बुरा उत्पन्न नहीं किया गया। यदि बुराई प्रतीत होती है तो वह किसी-न-किसी खूबी की कमी के सिवा कुछ नहीं और इसका बल भी सदा किसी-न-किसी खूबी के सहारे होता है। अतः संसार में स्पष्ट बुराई कोई वास्तविक सत्ता व बल नहीं रखती। केवल सद्‌गुणों के प्रकाश की त्रुटि व अभाव को ही बदी का नाम दिया जाता है, इसलिए सारी बुराइयों की प्राकृत चिकित्सा यही है कि उनके विपरीत सद्‌गुणों की ओर ध्यान दिया जाय।

अन्धेरा पीटते रहना व्यर्थ है। आलोक की एक रश्मि पड़ते ही इसका पता नहीं लगता कि कहाँ चला गया। अपनी बुराइयों का स्मरण करके रुदन तथा पश्चात्ताप में ही लगे रहना अत्यन्त हानिकर है। किसी बुराई की प्राकृत चिकित्सा यही है कि उस बुराई को भूलकर उसमे उलट खूबी को बारम्बार सामने लाते हुए उसकी चाहना तथा उसका अभ्यास किया जाय। किसी रोग की निवृत्ति का भी सरल उपाय यही होता है कि रोग की ओर से अपना मनोयोग हटाकर उसे

स्वास्थ्य की ओर लगाया जाय तथा उसकी पुन प्राप्ति का उपाय किया जाय। यदि हम व्याधि के चिन्तन म ही रहेंगे तो वह और भी जड पकड जायगी। बुराइयो के उन्मूलन में भी यही गुर कार्यकर होता है।

बहुधा देखा जाता है कि एक नैसर्गिक तथा आवश्यक शक्ति भी अपनी भ्रमात्मक मनोवृत्ति अथवा उसके दुरुपयोग से बुराई का रूप धारण कर लेती है और जब उसकी दिशा को बदल दिया जाता है, तो वही शक्ति अपना आसुरी रूप बदल कर दैवी गुण हो जाती है। उदाहरणत जब काम (लिंग) शक्ति नीचे की ओर बहती हुई अस्वाभाविक रीति से बढती जाती है, तब वह अति घृण्य बुराई समझी जाती है। परन्तु जब उसी पाशविक शक्ति की दिक् आध्यात्मिकता की ओर फेर दी जाती है, तो वही शक्ति प्रेम में रूपान्तरित हो जाती है। क्रोध को ही देखो, जब यह पाशविक प्रवृत्ति दूसरे प्राणियो के विरुद्ध प्रयुक्त होती है तब यही अति निन्द्य मानी जाती है। किन्तु जब यही शक्ति अपने अन्दर तथा बाहर की बुराइयों के विरुद्ध काम करती है तब यह एक दैवी गुण हो जाती है।

अत इन प्राकृतिक शक्तियो को अनुपयुक्त दशा तथा अनुचित रूप में प्रयुक्त देखकर इन्हें कुचलने व दबाने की चेष्टा एक प्रकार का आत्मघात ही है। कोई भी शक्ति स्वरूपत बुरी नहीं है, इसकी बुराई अथवा भलाई इसके दुरुपयोग तथा सदुपयोग पर निर्भर होती है। वस्तुत बुराई व भलाई हमारे मन का अपना ही स्वभाव है, बाह्य वस्तुओ का नहीं।

कृष्णमूर्ति, जिसे कई लोग आधुनिक युग का जगत्गुरु मानते है, इस बात पर बल देता है कि बुराई वास्तविक है और इसके उलट भलाई काल्पनिक सत्ता रखती है। इसलिए उसका परामर्श यह है कि बुराई को ही पूर्णत समझ लेने से उसके स्वय ही उन्मूलित हो जाने पर भलाई तत्काल स्वत ही उद्भूत हो जायगी। जैसे कि व्याधि के निरा-

करण पर स्वास्थ्य स्वयं प्राप्त हो जाता है। इस कथन में कुछ सत्य तो अवश्य है किन्तु व्यापक सत्य नहीं है। अपनी अविद्या को जान लेने से कभी कोई विद्वान् नहीं हो जाता और न ही अपनी दुर्बलता का परिज्ञान बलवान बना देता है।

: १३ :

# एक ही कारण : एक ही उपचार

सभी बुराइयो का कारण तथा उनके उन्मूलन का उपाय एक ही है। आत्म-प्रसाद ही एक कारण है और आत्म-चिन्तन ही एक कार्य-कर तथा अचूक चिकित्सा है।

वास्तव में अपना आप सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है, इसमें मरण, अन्धकार, दुख इन तीनो का ही अत्यन्ताभाव है। आत्मा असीम, नित्य, मुक्त तथा निर्विकार है। इसे कोई भी दृश्य तथा बाह्य और आन्तरिक घटना प्रभावित नही कर सकते। आत्मा अनन्त शक्ति है। अत. इसके लिए कुछ भी असम्भव नही है। यह स्वयं अमृत है। शुद्ध है। इसमें आधि-व्याधि के लिए कोई स्थान नहीं। यह स्वय ज्योति, स्वत सिद्ध तथा स्वय निर्गुण होकर भी सर्वगुण-निधान है। इसमें किसी भी बात का अभाव अथवा त्रुटि नही है। यह स्वयं पूर्ण तथा निरपेक्ष है। किसी भी अन्य वस्तु की मुहताज नही। वस्तुतः यह "अनन्तरोऽबाह्य" है। यह आप-ही आप अद्वैत सत्ता है, जो न किसी के अन्तर है, न बाहर, न आगे है न पीछे, न नीचे है न ऊपर, यह देशकाल-गुणातीत है।

आत्मा से जगत् की उद्‌भूति केवल आविर्भाव के लिए ही नहीं वरन् आत्मदर्शन के लिए है। सगीतकार गाकर ही अपने आन्तरिक सौन्दर्य को पाने का आनन्द लेता है। इसी आत्म-प्रकाश का नाम ही तो चरित्र है। इसी आत्म-प्रकाश द्वारा ही आत्मदर्शन सम्भव होता है, अन्यथा आत्मा अदृश्य तथा अदृष्ट दृष्ट है। यह जगत् ... का ही महादर्पण है।

चन्द्र, सूर्य से आलोकित होकर भी जब सूर्य

जाता है तब सूर्य-ग्रहण का कारण हो जाता है। इसी प्रकार जब हम अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर अपने व्यक्तित्व के साथ तन्मय हो रहते हैं तब से ही समस्त बुराइयों का ऋणात्मक उद्भव होने लगता है।

जब पुरुष अपने को एक व्यक्तिगत मन निश्चय कर लेता है तब उसमें वियोग तथा अहंकार का भ्रम उदय हो जाता है। इसी भ्रम को ही मूल अविद्या कहते हैं। इसी अविद्या के अन्धकार में ही असीम में ससीम का भ्रम उत्पन्न होकर अपने बिना समस्त जगत् को अनात्म रूप में बदल डालता है और मानसिक स्तर से भी नीचे उतरकर जब पुरुष अपने को अपनी भावुक सत्ता के साथ एक मान लेता है तब यह निजानन्द को भूलकर सुख-दुःख के द्वन्द्व से प्रभावित होने लगता है। सुख से विषय-वासना तथा दुःख से भय की उत्पत्ति होकर यह हर्ष-शोक, राग-द्वेष से अभिभूत होता हुआ बाह्य घटनाओं का दास बन जाता है। इसी से काम, विषय-लालसा, क्रोध प्रभृति विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

और भावुक स्तर से ही नीचे उतरकर जब वह अपने को एक शरीर समझने लगता है, तब मानो एक अत्यन्त तंग कोठरी में कैद होकर एक ओर शरीर की अन्ध प्रवणताओं और दूसरी ओर बाह्य पदार्थों के हाथ बिक जाने पर उसे यह भ्रम होने लगता है कि यदि जीवन-आवश्यकताओं की पूर्ति न हो पाई तो वह आप ही मिट जायगा। संक्षेपतः मानसिक स्तर पर द्वैत, भावुक स्तर पर दुःख तथा शारीरिक स्तर पर मृत्यु के भ्रम उत्पन्न होते हैं। और सभी बुराइयों का जन्म दुःख तथा मृत्यु के भय और सुख तथा सदा जीते रहने की वसना से हुआ करता है।

सभी व्याधियों के कीटाणु अंधकार में और समस्त आधियों के बीज आत्म-प्रमाद में उद्भूत होकर वर्द्धमान होते हैं। सूर्य आलोक में कीटाणु तथा आत्मज्ञान की अलुप्त ज्योति में बुराई के बीज जीवित नहीं रह सकते। अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल जाने पर समस्त कल्मष तथा दुःख की उत्पत्ति होती है। हम ज्यों-ज्यों अपने व्यक्तित्व

: १३ :

## एक ही कारण : एक ही उपचार

सभी बुराइयों का कारण तथा उनके उन्मूलन का उपाय एक ही है। आत्म-प्रसाद ही एक कारण है और आत्म-चिन्तन ही एक कार्यकर तथा अचूक चिकित्सा है।

वास्तव में अपना आप सत्त, चित्, आनन्दस्वरूप है, इसमें मरण, अन्धकार, दुख इन तीनों का ही अत्यन्ताभाव है। आत्मा असीम, नित्य, मुक्त तथा निर्विकार है। इसे कोई भी दृश्य तथा बाह्य और आन्तरिक घटना प्रभावित नहीं कर सकते। आत्मा अनन्त शक्ति है। अत इसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। यह स्वय अमृत है। शुद्ध है। इसमें आधि-व्याधि के लिए कोई स्थान नहीं। यह स्वय ज्योति, स्वत सिद्ध तथा स्वय निर्गुण होकर भी सर्वगुण-निधान है। इसमें किसी भी बात का अभाव अथवा त्रुटि नहीं है। यह स्वयं पूर्ण तथा निरपेक्ष है। किसी भी अन्य वस्तु की मुहताज नहीं। वस्तुतः यह "अनन्तरोऽबाह्य" है। यह आप-ही-आप अद्वैत सत्ता है, जो न किसी के अन्तर है, न बाहर, न आगे है न पीछे, न नीचे है न ऊपर, यह देशकाल-गुणातीत है।

आत्मा से जगत् की उद्भूति केवल आविर्भाव के लिए ही नहीं वरन् आत्मदर्शन के लिए है। सगीतकार गाकर ही अपने आन्तरिक सौन्दर्य को पाने का आनन्द लेता है। इसी आत्म-प्रकाश का नाम ही तो चरित्र है। इसी आत्म-प्रकाश द्वारा ही आत्मदर्शन सम्भव होता है, अन्यथा आत्मा अदृश्य तथा अदृष्ट दृष्ट है। यह जगत् आत्मदर्शन का ही महादर्पण है।

चन्द्र, सूर्य से आलोकित होकर भी जब सूर्य तथा पृथ्वी के मध्य आ

जाता है तब सूर्य-ग्रहण का कारण हो जाता है। इसी प्रकार जब हम अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर अपने व्यक्तित्व के साथ तन्मय हो रहते हैं तब से ही समस्त बुराइयों का ऋणात्मक उद्भव होने लगता है।

जब पुरुष अपने को एक व्यक्तिगत मन निश्चय कर लेता है तब उसमें वियोग तथा अहंकार का भ्रम उदय हो जाता है। इसी भ्रम को ही मूल *अविद्या* कहते हैं। *इसी अविद्या के अन्धकार में ही असीम में* ससीम का भ्रम उत्पन्न होकर अपने बिना समस्त जगत् को अनात्म रूप में बदल डालता है और मानसिक स्तर से भी नीचे उतरकर जब पुरुष अपने को अपनी भावुक सत्ता के साथ एक मान लेता है तब यह निजानन्द को भूलकर सुख दुःख के द्वंद्व से प्रभावित होने लगता है। सुख से विषय-वासना तथा दुःख से भय की उत्पत्ति होकर यह हर्ष-शोक, राग-द्वेष से अभिभूत होता हुआ बाह्य घटनाओं का दास बन जाता है। इसी से काम, विषय-लालसा, क्रोध प्रभृति विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

और भावुक स्तर से ही नीचे उतरकर जब वह अपने को एक शरीर समझने लगता है, तब मानो एक अत्यन्त तंग कोठरी में कैद होकर एक ओर शरीर की अन्ध प्रवणताओं और दूसरी ओर बाह्य पदार्थों के हाथ बिक जाने पर उसे यह भ्रम होने लगता है कि यदि जीवन-आवश्यकताओं की पूर्ति न हो पाई तो वह आप ही मिट जायगा। संक्षेपतः मानसिक स्तर पर द्वैत, भावुक स्तर पर दुःख तथा शारीरिक स्तर पर मृत्यु के भ्रम उत्पन्न होते हैं। और सभी बुराइयों का जन्म दुःख तथा मृत्यु के भय और सुख तथा सदा जीते रहने की वासना से हुआ करता है।

सभी व्याधियों के कीटाणु अंधकार में और समस्त आधियों के बीज आत्म-प्रमाद में उद्भूत होकर वर्द्धमान होते हैं। सूर्य आलोक में कीटाणु तथा आत्मज्ञान की अलुप्त ज्योति में बुराई के बीज जीवित नहीं रह सकते। अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल जाने पर समस्त कल्मष तथा दुःख की उत्पत्ति होती है। हम ज्यों-ज्यों अपने व्यक्तित्व

की सीढ़ी पर नीचे-ही-नीचे उतरते आते हैं, त्यों-त्यों आत्मचैतन्य का उजियारा भी घटता चला जाता है और आत्म-प्रमाद से क्रमशः क्षुद्र अहंभाव, स्वार्थपरता, अभिनिवेश की उत्पत्ति होती है। अशुद्ध सत्व की पीढ़ी पर वह अत्यन्त क्षुद्र भावुकता के स्तर पर बाह्य घटनाओं का दास और स्थूल शरीर के स्तर पर बाह्य पदार्थों पर निर्भर हो जाता है।

इन सारी बुराइयों, दु:खों, क्लेशों से मुक्त होने का यही उपाय है कि मनुष्य फिर से अपने आप में प्रबुद्ध होकर बिम्ब से बिम्बित की ओर लौटकर अपने स्वरूप में जीना आरम्भ करे। बिंब अल्प तथा मर्त्य है, बिंबित भूमा तथा अमृत है। आत्म-सूर्य के आतप में स्नान ही सभी क्लेशों की एकमात्र चिकित्सा है। अत: बिंब के साथ माथा पीटने के स्थान में बिंबित की ओर जागने की आवश्यकता है। दर्पण को तोड़ने से क्या लाभ ? अपने वदन तथा दृष्टि की ओर जागो। यदि कोई संगीतकार अपने राग के आनन्द में ही डूब रहा हो तो साजों को तोड़ने की क्या आवश्यकता होगी। साज तो उसकी अपनी बहुमूल्य रचनाएँ हैं। केवल अपने आपको सम्भालने की ही आवश्यकता है। तब बन्धन, दुःख, मरण के भ्रम दूर हो जाने पर अभी और यहीं निज प्रकाश, निजानन्द तथा निजामृत का परम लाभ हो जायगा।

"तू घास तथा मृत्तिका में छिपा हुआ एक रत्न है, ऐ चन्द्रमुख ! यदि तू अपने मुखड़े को मिट्टी से धो डाले तो क्या होगा ? तू अपनी पीढ़ी से राजा तथा समस्त देवताओं का पूज्य देव है। ऐ निस्व कंगाल, यदि तू अपने पिता के देश का अनुसन्धान करे तो क्या होगा ?"

(शम्सि तब्रेजी)

# सार्थक जीवन के तीन गुर

सार्थक जीवन के परमानन्द की प्राप्ति के निमित्त सर्वप्रथम इस तत्त्व को हृदयगम करना आवश्यक है कि आत्मा (सभी का यथार्थ अपना आप) स्वरूपत नित्य, पूर्ण, अचल, शात तथा अमर है। इसमें सभी पदार्थों तथा गुणों की पूर्णता है; इसमें न कोई त्रुटि है, न दोष, यह न तो किसी घटना का दास है और न किसी वस्तु का मुहताज। वृद्धि, क्षति, उन्नति, अवनति, उत्थान, पतन आत्मा के प्रकाश से सम्बन्धित हैं, *आत्मा के स्वरूप से नहीं।*

इस पार्थिव जीवन में आत्म-विकास केवल आत्म-प्रकाश के आनद के उपभोग तथा फैलाव के लिए है और यह आत्मा का स्वभाव और एक मौलिक तथ्य है, जो किसी प्रमाण का विषय न होने से स्वतः सिद्ध है। आत्मा सर्वान्तरयामी है, सबको प्रभावित करता है, किसी दृश्य से प्रभावित नहीं होता, इसका स्वभाव देना है, लेना नहीं। निजधन को विकसित करना है, कहीं से या किसी से कुछ पाना नहीं।

बीज बाहर से मृत्तिका, जलवायु आदि को केवल इसलिए ग्रहण करता है कि उनके द्वारा अपनी शोभा तथा माधुर्य को व्यक्त कर सके। वाद्य (साज) वादक के लिए होता है। वादक वाद्य के लिए कभी नहीं। इसी प्रकार *व्यक्ति आत्मा के लिए है, आत्मा किसी व्यक्ति* के लिए नहीं।

ससार में दो बड़े भ्रम फैल रहे हैं, जो सत्य-जीवन में बाधक हुआ करते हैं।

(क) व्यक्ति का अपने व्यक्तित्व में निमग्न होकर इसका दास तथा सेवक हो रहना तथा अपना आप भूल जाना। ऐसी दशा में

जीना इसी प्रकार व्यर्थ होता है, जैसे शरीर अपनी छाया तथा वाहक का अपने वाहन के लिए जीना। तब हमारा व्यक्तित्व आत्म-प्रकाश का एक साधन होने के स्थान में इसे आवृत्त करता हुआ आनन्द तथा *अमृत के स्थान में दु:ख तथा मृत्यु का कारण हो जाता है।*

(ख) दूसरी बड़ी भूल यह है कि कई लोग आत्मज्ञान का श्रवण, मनन कर चुकने पर यह यत्न करते हैं कि व्यक्तित्व को दबा, मिटा व भुलाकर केवल निजानन्द का उपभोग किया जाए। ऐसे भ्रांत लोग आत्मप्रकाश के निमित्त अपने व्यक्तित्व का अच्छे-से-अच्छा विकास करने के स्थान में जीने से ही उदासीन हो जाते हैं। यह ऐसी ही बड़ी भूल है जैसे कि कोई वादक अपने या किसी और के वाद्य से शोर निकलता सुनकर उसे त्यागने, तोड़ने अथवा उससे दूर भागने का इच्छुक हो। वाद्य की रचना तो केवल इसलिए की गई है कि उससे विनिर्गत होने वाले शोर को राग में बदलकर अपने तथा औरों के लिए आनन्द को उत्पन्न किया जाए। इसी प्रकार व्यक्तित्व का आविर्भाव भी केवल इसलिए हुआ है कि प्रबुद्ध व्यक्ति इसके द्वारा उठने वाले अहंकार, स्वार्थ-परता, विद्वेष, वैर, लोभ तथा क्रोध के मानसिक शोर को निरह, निर्मम भाव, सर्वहित प्रेम, क्षमा, सहानुभूति तथा सेवा व सहकारिता में बदल दिया जाए, किंतु प्राय: लोग इसी भ्रम में फँसकर जीवन-मुक्ति के आनन्द से वंचित रहते हैं।

ऐसे लोगों की दृष्टि में संसार में जन्म लेना व जीना एक प्रकार का दण्ड व अभिशाप है। यह लोग अपने व्यक्तित्व की उपाधि से जान छुड़ाने के लिए विश्वजगत् को एक भ्रम और जीवन को एक प्रकार का बंधन निश्चय करके इससे छुटकारा चाहते हैं। ऐसे लोग कितने ही महापण्डित तथा त्यागी क्यों न हों, इन्होंने व्यक्तित्व, जगत् तथा जीवन के रहस्य को पाया ही नहीं। हम इस संसार में कहीं तथा किसी कारण से अभियुक्त, अभिशप्त अथवा निर्वासित होकर नहीं भेजे गए। यह जगत् हमारा अपना घर है, इसी से तथा

इसी में हमारा जन्म केवल इसलिए हुआ है कि हम प्रबुद्ध होकर आत्म-प्रकाश तथा आत्म-दर्शन कर सकें। भौतिकत्व आध्यात्मिकता का दर्पण ही है और हमने जड़-हृदय में ही आत्म-दर्शन का आनन्द पाकर उसे चारो ओर संचारित करने के लिए ही तो जन्म लिया है। हम सदा अपने घर में हैं, कहीं से आए और कहीं जाना नहीं। हमारा जीवन इस जीवन की पूर्णता तथा सफलता है, जो अपने ही गुप्त आनन्द तथा अपनी ही गुप्त रचनात्मक शक्ति को पाने तथा व्यक्त करने में है। हमने कुछ पाने, होने व और कहीं जाने या समाने के निमित्त जन्म नहीं लिया। जीवन स्वयं हमारी राह में अपने को सफल करना चाहता है। जीवन एक साधन होने के स्थान में स्वयं साध्य वस्तु है। यदि हम दर्पण की ओर अपनी आँख न खोलें तो उसमें अपना चेहरा नहीं देख सकते। इसी प्रकार हमें प्रकृति के महादर्पण में स्वयं ही अपना दर्शन पाना होगा। यही जीवन की परमगति है।

अतः जीवन का साफल्य न तो अपने व्यक्तित्व में डूबने के लिए है और न ही इस मानवीय यन्त्र से अज्ञान अवस्था में दुख तथा मृत्यु का शोर सुनकर इसे मिटाने, भुलाने व इससे जान छुड़ाने में है, वरन् इसके द्वारा अपनी आत्म-सत्ता के सर्वांग प्रकाश में है। व्यक्तित्व का यह आलोकित तथा रहस्यमय वाद्ययन्त्र व्यर्थ गँवाने के लिए नहीं, यह आत्मा को आवृत करने वाला कोष होने के स्थान में आत्म-ज्योति, आत्मसौन्दर्य तथा आत्मानन्द का अक्षय, अव्यय तथा अशेष कोष ( खजाना ) है। हमारा काम इसे हेय समझ कर इसकी उपेक्षा करना नहीं, वरन् इसे समुन्नत करके इसका उपयुक्त प्रयोग करना है।

*व्यक्ति के तीन मुख्य अवयव हैं, जिनके द्वारा आत्मा अपना प्रकाश* तीन प्रकार से करती है।

(क) मानसिक अवयव का विशेष कार्य सर्व में एकत्व दर्शन है। यदि हम संसार के पदार्थों तथा घटनाओं में केवल भेद तथा पार्थक्य

ही देखते हुए, उनके मध्य में एकता का सूत्र देख नही पाते, तो समझ लो कि अभी हमारे जीवन का मानसिक अंश सफल नही हो पाया। अथवा एकत्व दर्शन का यह अर्थ कभी नही हैं कि हम भेद की ओर निपट अंधे ही हो रहें। वरन् यह कि हमें भेद में अभेद तथा अभेद में ही भेद दृष्टिगोचर होने लगे, और हम सर्व में एक तथा एक में सर्व को देख पाएं। व्यक्तित्व का यह अवयव जीवन में सर्वैक्य का स्वर प्रदान करता हैं। जब तक हमारी चेतना में एकत्व ज्योति स्थिर नही हो जाती, तब तक अनेकता के शोर से बचने के लिए सभी मानसिक क्रियाओं को रुद्ध करने (चित्तवृत्ति के निरोध) की आवश्यकता हुआ करती हैं। किंतु एकत्व दृष्टि खुलते ही समस्त वैचित्र्य, सौन्दर्य का उपकरण हो जाता है। तथा देखना, सुनना, चखना सूँघना, छूना, सोचना, सभी कुछ ही आत्मानुभूति हो जाने से हृदय हर हाल में ही प्रसन्न रहा करता हैं।

(ख) व्यक्तित्व के भावुक अंश की चरितार्थता सर्व के साथ प्रेम करने में हैं, आत्म-ज्योति की किरणें पाशविक भावों को दैवी भावों में रूपान्तरित करने का रासायनिक प्रभाव रखती हैं। अतः आत्म-ज्योति की उपस्थिति में हमें पाशविक प्रवृत्तियों को दबाने व कुचलने की अति आवश्यकता ही नही हुआ करती, क्योंकि वह उच्च कामनाओं में परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार नीच भावों का भी रुख ही बदला जाता हैं। उनका दमन नही किया जाता, यह आश्चर्य रासायनिक क्रिया, काम, क्रोध, निष्ठुरता, कार्कश्य के आसुरी भावो को प्रेम, सहानुभूति, करुणा तथा कोमलता में बदल देती हैं। यथार्थ आध्यात्मिकता असुर को ही देव बना देने में हैं। अवदमन जीवन को खोखला करके अनेक आधियों, व्याधियों का कारण हो जाता हैं।

(ग) व्यक्ति के तामसी भाग की सफलता इसमें हैं कि यह परस्पर प्रतियोगिता के स्थान में परस्पर सेवा का यन्त्र हो जाए। सबके साथ अपने आप की भांति बर्ताव करे। औरों का सुख-दुःख अपने ही

सुख-दु:ख के समान प्रतीत होने लगे।

एकत्व दर्शन सर्वहित, सेवा, स्वास्थ्य तथा सर्वांग जीवन के यह तीन मौलिक तत्व हैं। इसमें से किसी के अभाव पर जीवन असफल रहता है। ज्ञान-विहीन प्रेम अन्धा, प्रेमशून्य ज्ञान निर्जीव तथा सेवा विना ज्ञान तथा प्रेम उभय निष्फल रहते हैं।

जीवन क्या है? व्यक्ति तथा प्रतिवेश का परस्पर सम्बन्ध है और जगत् वस्तुत क्या है? आत्म-दर्शन का महान् तथा अमूल्य दर्पण है, जिसमें जीव आत्म-दर्शन प्राप्त कर सकता है। प्रभात की मुस्कराहट ओस की निर्मलता, फुलवाडी का हास्य, पक्षियों का मधुर गान, सरिता का बहाव, समुद्र का लहराव, आकाश की व्याप्ति, निशा का मौन, तारागण की शोभा हमें क्यों प्यारे लगते हैं तथा आनन्दित करते हैं? इस आनन्द का गुह्यतम रहस्य यह है कि इन दृश्यों में आत्मा (अपने वास्तव आप) की झलक पाई जाती है।

किन्तु यदि हमें विश्व-जगत् तथा उसकी प्रत्येक वस्तु तथा घटना में एकत्व आनन्द प्राप्त नहीं होता तो इसका एक यही कारण हो सकता है कि हमारा व्यक्तित्व-यन्त्र, जिसके द्वारा जगत् की वस्तुओं को अनुभव करते हैं, स्वस्थ तथा सर्वांग-उन्नत नहीं है। अर्थात् या तो अन्त करण में अभी तक सर्वैक्य का उजियारा नहीं हो पाया, या हमारी भावुक सत्ता प्रेम में रूपान्तरित नहीं हो सकी अथवा हमारी शारीरिक क्रिया सर्वात्म भाव से भावित नहीं हुई। यदि हमें मधुर गान, रसीले भोजन तथा किसी सुन्दर दृश्य में सुख प्रतीत न हो तो अवश्य ही हमारे अपने श्रोत्र, रसना व चक्षु में ही कोई-न-कोई दोष है। प्रकृति के प्रति सुन्दर तथा चित्ताकर्षक दृश्य इस बात का संकेत दे रहे हैं कि यह जगत् एक सुनसान दुखाकर नहीं है।

वस्तुत सारे व्यक्तित्व के जीवन का एकमात्र गुर सर्वैक्य है। यही मौलिक ऐक्य ही प्रेम तथा सेवा के रूप धारण कर लेता है।

हमारी ज्ञान, भाव तथा इच्छा की शक्तियाँ क्रमशः एकत्व दर्शन, विश्व-प्रेम तथा सब की क्रिया कार्यात्मक सेवा में ही चरितार्थ होती हैं। जीवन के यह तीनों स्वर विश्व-संगीत के साथ एकतान होकर जीवन को आनन्दमय बना देते हैं।

: १५ :

# प्रेम रसायन

जीवन का आलोक यन्त्र अन्त.करण (सत्व) है और संसार म काम करने का यन्त्र तमस् है। किन्तु ज्ञानालोक में शरीर को चालित करने वाली भावशक्ति (रजस्) है।

आध्यात्मिक जगत् में इससे बड़ी कोई भूल नही है कि वासनाओं का अन्धापन तथा भावो की पाशविकता देखकर इन्हें रूपान्तरित करने के स्थान में कुचल व मार देने का प्रयत्न किया जाए। ऐसा करने से तो जीवन का सुधार नही सहार होता है। जीवन एक रहस्यमय शक्ति है। सत्व इसके पथ-प्रदर्शन के लिए दरकार है, तथा बाह्य जगत् में परिवर्त्तन के लिए शरीर अपेक्षित है, किन्तु जीवन की निजी पूँजी तो चालक-शक्ति (रजस्) ही है। जीवन के साफल्य के लिए इस शक्ति का रस ही बदलना होगा।

जो लोग जीवन के महत्व को देख नही पाए, वह यही शिक्षा दिया करते हैं कि ससार मृग-तृष्णा के समान असत् है। हमें मोहित करने के लिए माया ने इन्द्रजाल का तमाशा रचा लिया है। वस्तुतः यह कभी हुआ ही नही और यह हमारी अविद्या के अन्धकार में मानो एक अनहुआ वेताल भासमान हो रहा है। भला ऐसी भ्रान्त शिक्षा की कल्लर भूमि पर चरित्र का पौदा कैसे प्रफुल्लित तथा फलित हो सकता है। जिस प्रकार पौदा गदगी को आत्मसात् करता हुआ इसे सुगन्धित फूलों तथा सरस फलो में रूपान्तरित कर देता है, इसी प्रकार सच्चरित्र जीवन में यह शक्ति होती है कि वह नीच कामनाओ को उच्च आकाक्षाओ में परिवर्तित कर देता है। कामना के बिना जीवन कहाँ रह सकता है? क्षुधा, पिपासा भी तो एक प्रकार की कामनाएँ ही है, जब तक

हमारी कामनाओ का रुख बाह्य विषयो की ओर हैं, यह नीच समझी जाती है। किन्तु जब इनका रुख ऊपर (आध्यात्मिक मूल्यो—सत्य, मगल, सौन्दर्य) की ओर पलट जाता है तब यही उच्च आकाक्षाएँ कहलाने लगती है। यही हाल भावो का है। भावहीन जीवन सूना तथा विरस होता है।

चरित्र की इसी रासायनिक शक्ति का नाम ही प्रेम है। प्रेम से ऊपर कोई शक्ति नही है। यही बाह्य तथा अन्तर-जगत् का आधार है। इस के द्वारा ही समस्त जीवन वर्द्धित तथा विकसित होता है और यही समाज को सम्भव बनाती है। यह दुख को सुख, शोक को हर्ष, हानि को लाभ, वैरी को मीत, हार को जीत, अनात्म को आत्म तथा मृत्यु को अमृत में बदल सकती है। प्रेम स्वय मुक्त होने से सभी को मुक्ति प्रदान करता है। किसी से बँधता व किसी को बाँधता नही, न ही यह किसी से डरता व किसी को डराता है। यह स्वय पूर्ण होने से देता है किन्तु लेने व प्रत्युपकार की आशा नही रखता।

जब प्रेम विद्वेष का स्थान ले लेता है तो ईर्ष्या समूल नाश हो जाती है। तब गुरुजनो की जो महत्ता हमारे हृदय में दबक, भय के भाव उद्रेक करती थी वही प्रशसा, सम्मान, भक्ति, पूजा के सात्विक भाव उत्पन्न करने लगती है और जहाँ बराबर के लोगों के सम्बन्ध में घृणा, क्रोध, वैर तथा हत्या के भाव पैदा होते थे, वहाँ वही भाव मैत्री, करुणा, बन्धुता तथा सहानुभूति में बदल जाते हैं। और इसी प्रकार विद्वेष के आधिपत्य अपने से छोटों तथा भृत्यो के साथ जो बदमिजाजी, घमण्ड, प्रभुता, प्रबलता तथा अत्याचार के नीच भाव पाए जाते थे, वह सब-के-सब प्रेम रसायन के प्रभाव से दया, अनुग्रह, सहायता तथा आदर को अपना स्थान दे देते है।

यदि कोई रसायनशास्त्रज्ञ कोयले को गैस के उजाले, तथा कोई वैद्य विष को पौष्टिक औषधि में बदलने की क्षमता नही

रखता, तो वह अपनी विद्या में दक्ष नहीं कहला सकेगा । इसी प्रकार जो पशु को मनुष्य, असुर को देव, नीच को उच्च तथा तमस् को सत्य में रूपान्तरित करना नहीं जानता, वह चरित्र-विज्ञान से निपट शून्य ही है ।

: १६ :

# निरन्तर प्रगतिशीलता का आदर्श

जीवन का केन्द्रीय गुण निरन्तर आगे बढना तथा ऊपर उठना है और इसकी प्रगति के रुद्ध हो जाने का नाम ही मृत्यु है। जीवन और स्थिरता इक्ट्ठे नही रह सकते। यदि जीना अभिप्रेत हो तो लगातार आगे बढना होगा। कही भी रुक जाने पर जीवन काफूर हो जाता है तथा उसमें सडांद आरम्भ होकर मृत्यु के चिन्ह दिखाई देने लगते है। वह चरित्र जो लगातार ऊपर नहीं उठता, कितना भी ऊँचा होने पर गतप्राण ही होता है।

इसलिये यदि हम अपने चरित्र को सजीव रखना चाहें तो हमें अपने सद्गुणो को निरन्तर समुन्नत करना होगा। जीवन का स्वभाव गतिशीलता है और जब इसमें प्रगति नही होती तो अव-गति अवश्य होती है। यदि हम लगातार आगे बढ रहे हैं, तब तो जीवित हैं, किन्तु जब पीछे को मुडने व नीचे को गिरने लगते है, तब हम लगातार मरा करते है।

आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य ससीम से निस्सीम की ओर जाना है और ज्ञान, प्रेम, पवित्रता, सौजन्य की ओर बढने में रुक जाना मौत है। आध्यात्मिकता का वृत्त केन्द्र तो रखता है, परन्तु परिधि कहीं नही तथा आध्यात्मिक गुण व्यक्तित्व में अपना आरम्भ-बिन्दु तो रखते है किन्तु अपनी विस्तार परिसीमा कही भी नहीं। पशु और मनुष्य में बडा अन्तर यही है कि पशु का विकास एक सीमा पर पहुँचकर रुक जाता है जबकि मानव-प्रगति की कहीं सीमा नही पाई जाती। और इसी अनन्त प्रगति में ही तो मनुष्य की आध्यात्मिकता का रहस्य मिलता है।

जीवन में चरित्र-निर्माण से भी बढ़कर प्रश्न यह है कि चरित्र को किस प्रकार सदा जीवित तथा लचीला रखा जा सके। कोई भी जीवित शरीर चाहे वह कितना भी सजीव, बलवान, सुन्दर तथा तेजोमय हो, मृत होते ही गलने-सड़ने लगेगा। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति अथवा जाति जब किसी स्टेज पर रुककर आगे बढ़ना तथा ऊपर उठना छोड़ देती है, तब उसका पतन तथा मृत्यु आरम्भ हो जाते हैं। साधारण तथा प्रथागत नीति तो भलमंसाहत, साधुता तथा मान्यता के आगे नहीं ले जा सकती। यह केवल कतिपय नियमों के अनुसरण पर ही सन्तुष्ट रहकर प्रगति का कोई ख्याल नहीं रखती।

इसलिए चरित्र की चिर-सजीवता के निमित्त यह जानना आवश्यक है कि जीवन को मृत्यु तथा पतन-गलन से सुरक्षित रखने का व्यापक तथा अटल नियम क्या है? वह नियम कभी का आविष्कृत हो चुका है और वह है—

"अपने आदर्श तथा लक्ष्य की निरन्तर उपासना।" हमारा आदर्श असीम तथा सर्वांगपूर्णता है। और हमारी इस लक्ष्य तथा सम्भावनीय पूर्णता को ही तो अपने से बाहर कल्पना करके उसे ईश्वर, भगवान् आदि अनेक नाम दिए गए हैं। ईश्वर और अपूर्णता! यह बात भी धारणातीत है, इसीलिए तो ईश्वर की सर्वत्र पूजा होती है। चाहे हमारी ईश्वर-सम्बन्धी धारणाओं में कितना ही मतभेद पाया जाय, प्रत्येक मनुष्य पूर्णता का कोई-न-कोई आदर्श अवश्य ही रखता है। अन्यथा उसे अपना जीवन व्यर्थ प्रतीत होता है।

और यह एक मनोवैज्ञानिक नियम है कि मनुष्य जैसा सोचता है वैसा होता चला जाता है। इसलिए चरित्र को चिरजीवी तथा अमर रखने का व्यावहारिक रहस्य यही है कि हम भगवान् (उच्चतम लक्ष्य) को अप्रमत्त भाव से सदा सामने रखते हुए, उसकी ओर बढ़े चले जाएँ। यही वास्तविक तथा मानवोचित उपासना है। यही

सच्ची भक्ति तथा जीवनप्रद पूजा है, प्रथागत तथा काल्पनिक नहीं।

मानव-पूर्णता ही मनुष्य का परम पूज्य इष्टदेव है, यह पूर्णता केवल अनन्त ही नहीं, वरन् अपने-अपने अनन्त पक्षों में से प्रत्येक पक्ष में भी अनन्त है, और मनुष्य को इस आदर्श का सुझाव तथा उसके लिए अक्षय आकर्षण का होना, इस बात की जमानत करता है, कि मानव प्रगति की कहीं भी सीमा न तो है और न हो सकती है। हर पूर्णता के बाद नई पूर्णता है। इसका कहीं अन्त नहीं और अन्त का नाम ही तो मृत्यु है।

प्रत्येक सजीव सत्ता अपने दो पक्ष रखती है। एक वास्तविकता का अर्थात् "जो वह है" और दूसरा संभावना का अर्थात् जो "वह हो सकती है" और जीवन की गति सदा "जो है" से "जो हो सकती है" की ओर हुआ करती है। मनुष्य तथा इतर प्राणियों में जो मौलिक अन्तर है वह यह है कि मनुष्य की संभावना (शक्यता) निस्सीम है जबकि दूसरे प्राणी सीमित संभावना रखते हैं।

मनुष्य की अनन्त शक्यता अथवा संभावना ही उसका ईश्वर है और उसके साथ प्रीति तथा उसकी ओर आकर्षण का रहस्य भी यही है कि वह कोई अन्य सत्ता होने के स्थान में हमारा संभाव्य अपना आप ही तो है। और उस आदर्श का नित्य चिंतन ही उसकी जीवन्त पूजा है। इस दृष्टि से देखा जाय, तो भगवत पूजा तथा यथार्थ जीवन एक ही वस्तु के दो नाम हैं। प्रकृत जीवन ही धर्म है और धर्म ही जीवन है। और अपने दैनिक जीवन में अपने प्रत्येक संकल्प, भाव तथा क्रिया द्वारा अपने असीम आदर्श की ओर निरन्तर बढ़े जाना ही सत्य जीवन अर्थात् जीवन्त उपासना है। तद्व्यतीत सभी कुछ कपोल-कल्पना और निराधार ढारम है। और जो भी सत्ता हमारे मानसिक, भावुक तथा कार्यात्मक जीवन का लक्ष्य नहीं है, वह तत्वतः हमारा इष्टदेव न तो है और न कभी हो सकता है। स्वस्थता में

भिन्न किसी कल्पित उपास्य-देव की पूजा हमें वास्तविकता और तथ्यता की ओर से भुलाती हुई न तो हमारे दैनिक जीवन में कोई मौलिक परिवर्तन लाती है और न ही चरित्र-निर्माण में सहायक होती है।

· १७

# उपसंहार

चरित्र विकास का अनुसन्धान करते हुए हमने जान लिया कि मानव जीवन की सार्थकता किस बात में है। जीवन-रूपी वृक्ष का फल चरित्र है और चरित्र-विकास की कोई सीमा नहीं है। चरित्र की व्याख्या करते हुए हमने देख लिया कि चरित्र कोई बाहर से थोपी गई वस्तु के स्थान में आत्म प्रकाश है, जो आत्म परिचय द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, अपने आप नहीं। आत्म-जिज्ञासा करते समय हमने देखा कि पुरुष तथा व्यक्तित्व में विवेचन करना आवश्यक है। व्यक्ति त्रिगुणात्मक है और आत्मा गुणातीत है। तदुपरान्त सम्यक विश्वास पर विचार करते हुए निर्णय किया गया कि सच्चा विश्वास साहसी तथा निर्भय बनाता है। फिर हमने सच्चरित्र के तीन मौलिक गुणों का वर्णन करते समय देखा कि यह तीन है—सत्य, प्रेम तथा सेवा। तद्पश्चात् चरित्र विकास में बाधाओं का विवरण किया जाने के बाद आध्यात्मिकता तथा कर्मयोग के विषय में खोज की गई। इसके बाद मुदिता और तीन बड़ी बुराइयों का वर्णन कर के बतलाया गया कि सभी बुराइयों का एक ही कारण और एक ही चिकित्सा है। अन्त में सत्य जीवन के तीन मुख्य गुण बतलाकर प्रेम रसायन तथा मानव चित्र की अनत प्रगतिशीलता पर विचार करते हुए स्पष्ट किया गया कि निरंतर प्रगति में ही जीवन तथा इसके कहीं भी रुक जाने में मृत्यु है।

और अन्त में इस परम गुह्य रहस्य का उद्घाटन कर दिया गया कि मनुष्य की निस्सीम प्रगति का आदर्श ही इसका परम पूज्य इष्टदेव है। नर तथा नारायण, भक्त तथा भगवान् कोई दो विभिन्न सत्ताएँ होने के स्थान में एक अखण्ड, अद्वैत मूल सत्ता के ही अपने दो पक्ष—ससीम

तया निस्सीम है और मानव-जीवन की मफलता तया सार्थकता ससीम में "जो हैं" निस्सीम "जो हो मकता है" की ओर लगातार बढ़ते जाने में है। जीवन एक यात्रा है, जिसमें ठहर जाने का नाम ही मृत्यु है। यह यात्रा देश-काल में है। अपनी ही आत्मसत्ता काल में हमारे सम्मुख आदर्श का रूप धारण कर लेती है। बच्चा जिस पुरुषत्व तक पहुँचने के लिए इतना व्याकुल तथा प्रयत्नशील होता है वह वस्तुतः उससे अभिन्न तथा उसका स्वरूप ही होता है। उससे अलग कहीं और कभी सत्ता नहीं रखता। किन्तु वह देशकाल में अपने से भिन्न प्रतीत होता है। इसी प्रकार नर नारायण को ढूंढता हुआ वास्तव में अपने आप को पाने के लिए व्याकुल होता है। देश तथा काल में अपना असली आप (परम आत्मा) ही अपना आदर्श प्रतीत होने लगता है, किन्तु यह बात सदा याद रखनी चाहिए कि परमात्मा सभी का अवैयक्तिक अपना आप है, वैयक्तिक नहीं और उसमें सर्व की एकता है।